विद्यापति

शिवप्रसाद सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

'उदास गण्डकी' की मूक लहरों को
कवि विद्यापति की स्मृति में

निवेदन

विद्यापति रस-सिद्ध कवि थे, एक ऐसे कवि जो कभी भी देश-काल की संकुचित सीमाओं मे आबद्ध नही होते। एक जमाना था जब विद्यापति के आलोचक उन्हें इस या उस भाषा का कवि प्रमाणित करने के अनावश्यक प्रयत्न को ही समीक्षा की इयत्ता समझते थे। उनके सामने सबसे बड़ा प्रश्न यही था कि विद्यापति मैथिली के कवि है, हिन्दी के है अथवा बँगला के। उन्हे अपना सिद्ध करने को सब तैयार थे, नाना प्रकार के सम्बन्ध-सूत्रो की घनी चादरें सभी बुनते जा रहे थे; पर किसी ने एक क्षण के लिए यह नही सोचा कि बाहरी सम्बन्धों की इन पर्तो मे कहीं वे गुण तो नहीं छिपते जा रहे है जिनकी वजह से कवि को सभी 'अपना' कहने के लिए उत्कंठित होते थे। विद्यापति मैथिली के कवि सिद्ध हुए जैसा कि वे थे। तब प्रश्न आया कि वे शैव थे या वैष्णव। विद्यापति को उसी रूप मे ग्रहण करने को हम तैयार नही थे जैसा कि वे थे क्योंकि किसी कवि की कविताओं को समझने के पहले हम अपने पूर्वग्रहों की तृप्ति अधिक आवश्यक समझते थे। हम मानते थे कि शैव कवि यदि प्रेम-गीत लिखता है तो वह अवश्य ही शृंगारिक होगा क्योंकि भक्तिपरक प्रेम-गीत तो केवल वैष्णव कवि ही लिखता है। इसलिए समालोचना के तीसरे दौर में विद्यापति के आलोचक के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यही था कि विद्यापति भक्त थे या शृंगारिक।

समालोचना के चौथे दौर में कौन से ऐसे प्रश्न उपस्थित हो गये है, जिनके लिए यह पुस्तक लिखनी पडी, ऐसा प्रश्न सहज स्वाभाविक है। उत्तर में निवेदन है कि तीन दौर की भयंकर समीक्षाओं के बाद विद्यापति सामान्य विद्यार्थी के लिए वर्ज्य हो चुके है और साहित्य की उच्चतम कक्षाओं में भी उनके स्तुति-पद और प्रकृति सम्बन्धी गीत आदि ही पढ़ाये जाते हैं, इसलिए अब आलोचक के सामने उनके काव्य के बारे में कोई खास सवाल नहीं रह गया है। इसलिए विद्यापति के काव्य के विषय में लिखी हुई यह पुस्तक उन विद्यार्थियों के लिए नही है जो विद्यापति के काव्य को किसी न किसी बिल्ले के आधार पर समझते है, जो उनके काव्य को उपर्युक्त ज्वलन्त प्रश्नों को दृष्टि में रख कर ही पढ़ना चाहते हैं, या जो विद्यापति के काव्य को वर्ज्य और अवर्ज्य के खानों मे बाँट

कर रखते हैं, और उतना ही अंश पढ़ना चाहते हैं जितना कोर्स में निर्धारित है। यह पुस्तक विद्यापति के उन पाठकों के लिए है जो चौदहवीं शताब्दी के संघर्षपूर्ण वातावरण में उत्पन्न एक महान् कवि के गत्वर व्यक्तित्व को देखना चाहते हैं, उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण करके उन सांस्कृतिक मूल्यों का आकलन करना चाहते हैं जो ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं। ऐसे प्रबुद्ध पाठकों के मन में भी शृंगार और भक्ति के बारे में किंचित् द्विधा का भाव हो सकता है, इसे दृष्टि में रख कर भक्ति-काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की पुनः परीक्षा की गई है और परिपार्श्व में भक्ति और शृंगार के सम्बन्धों का विश्लेषण किया गया है।

विद्यापति सौन्दर्य और प्रेम के कवि थे। सौन्दर्य के बारे में उनकी क्या धारणा थी, अथवा उनके सौन्दर्यबोध का क्या स्तर था—आदि प्रश्नों पर काफी विस्तार से विचार किया गया है। मानव और प्रकृति—दोनो ही के सौन्दर्य-चित्रण में कवि की रुचि, शैली, मौलिकता और परम्पराधर्मिता यानी पुरानी परिपाटी की स्वीकृति की व्याख्या की गई है। प्रेम के विषय में कवि के विश्वास और उनकी धारणाओं का स्पष्टीकरण करते हुए राधा और कृष्ण के प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का आकलन 'विद्यापति की राधा' शीर्षक निबन्ध में किया गया है।

गीति-काव्य के बारे में, उसके रूप और आत्मा को दृष्टि में रख कर बिल्कुल नये ढंग से विचार किया गया है। छायावादी गीतियों के सिलसिले में 'लीरिक' शब्द का प्रयोग तो बहुत बार किया जाता है; किन्तु अभाग्यवश अभी तक इस काव्य-रूप के विभिन्न पक्षों के सम्यक् अध्ययन का अभाव दिखाई पड़ता है। मुझे विश्वास है कि 'गीति-काव्य : उदय और विकास' शीर्षक निबन्ध कुछ अंशों मे इस कमी को पूरा करेगा और विद्यापति की गीत-रचना-प्रक्रिया को समझने में तथा उनके गीतो की लय और आत्मा को पहचानने में थोड़ा-बहुत सहायक होगा।

अंत में विद्यापति के अवहट्ठ-काव्य का भी संक्षिप्त मूल्याङ्कन दे दिया गया है क्योकि यह उनके कृतित्व का एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है और इसका अध्ययन अनिवार्यतः उनके साहित्य के कई प्रश्नो को समाहित करने में उपयोगी सिद्ध होगा।

विद्यापति के पदों के उद्धरणादि मैंने श्री रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित पदावली से लिए हैं। डा० विमानविहारी मजूमदार द्वारा सम्पादित 'विद्यापति' से भी कई पद लिये गए है, खास तौर से ऐसे पद जो पाठ और अर्थ की दृष्टि से पदावली के पदों से ज्यादा प्रामाणिक मालूम हुए हैं। मैं इन विद्वान् सम्पादकों का आभारी हूँ। इस कार्य में मुझे अन्य भी कई विद्वानों की रचनाओ से पर्याप्त सहायता मिली है। ऐसे सभी सुधी कृतिकारों के प्रति मैं अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

हिन्दी-विभाग, विश्वविद्यालय
वाराणसी, ११-११-५७ } **शिवप्रसाद सिंह**

विषय-सूची

१—व्यक्तित्व विश्लेषण १-३७

व्यक्तित्व किसे कहते है—विद्यापति के व्यक्तित्व में परस्पर विरोधी तत्वो का सम्मिश्रण—संस्कारी ब्राह्मणवंश—आत्मविश्वास—दरबारी कवि—सौन्दर्य दृष्टि—प्रेम और काव्य-प्रेरणा—निराशावादी नही थे—सम्प्रदाय और धर्म के बारे में उनके विश्वास—कामशास्त्र का प्रभाव—सामाजिक चेतना—गीतात्मक व्यक्तित्व ।

२—काल-निर्णय ३८-४६

विभिन्न मत—कीर्तिलता का रचना काल—लक्ष्मण सेन सम्वत्—विभिन्न राजों का सम्पर्क—डा० विमानविहारी मजूमदार के निष्कर्ष ।

३—जीवन-वृत्त ५०-५८

कैशोर दु:ख में बीता—नशरतशाह आदि के सम्पर्क मे—शिवसिंह के अन्तरंग मित्र के रूप में—दुरवस्था—मृत्यु ।

४—रचनायें ५६-६०

संस्कृत, अवहट्ठ और मैथिली रचनाओ का परिचय ।

५—पदावली के विभिन्न पाठ ६१-६३

राग तरंगिणी—रामभद्रपुर की पोथी—तरौणी का ताल-पत्र—नेपाल की पोथी—पदामृतसमुद्र—पदकल्प तरु—संकीर्तनामृत ।

६—जीवन-दृष्टि और धार्मिक-मान्यताएँ ६४-७८

वातावरण और कवि—क्या विद्यापति रहस्यवादी थे—कुमारस्वामी और विनयकुमार सरकार का विवाद—सुभद्र झा और ग्रियर्सन के मत—कृष्ण-भक्ति—वैष्णव शैव का विवाद—पंचदेवोपासक—मानवधर्मी कवि ।

७—भक्ति काव्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का पुनः परीक्षण ७६-१००

भक्ति-काव्य के उद्भव के बारे में विभिन्न मत—ईसाई-प्रभाव की बात—द्रविड देश मे भक्ति की उत्पत्ति—मुसलमानों के आक्रमण से भक्ति के विकास में सहायता—इन भ्रमो के मूल कारण—कृष्ण भक्ति संबंधी नई सामग्री—पुष्पदन्त के महापुराण मे रास का वर्णन—हेमचन्द्र के व्याकरण के दोहों मे राधा का जिक्र—पिंगल में राधा सम्बन्धीपद—प्राकृतपैंगलम् मे भक्ति काव्य के तत्त्व—शिव और कृष्ण पर समवेत-स्तुति की रचनायें—निर्गुण कवियों द्वारा कृष्ण-भक्ति के काव्य का निर्माण ।

८—शृंगार और भक्ति १०१-१०९
भक्ति और शृंगार का सम्बन्ध—इनको परस्पर विरोधी मानने की मिथ्या धारणा—शृंगार की भारतीय वाङ्मय में स्वीकृति और उसके विविध स्तरीय विकास—हाल की गाथा सप्तसती और उसकी शृंगारिक पृष्ठ-भूमि—भक्ति काव्य पर इसका प्रभाव—जयदेव का गीतगोविन्द—अपभ्रंश दोहों में शृंगार का चित्रण।

९—जैन कवियों की शृंगार और प्रेम-भावना ११०-११७
शम और विराग के काव्यों में शृंगार का महत्त्व—जैन काव्यों में नख-शिख वर्णन—विरह और संयोग—बारहमासा—नखशिख तथा रूप-चित्रण।

१०—राधा : पार्थिव प्रतिमा पराशक्ति के रूप में ११८-१४८
राधा का अर्थ—विकास की विभिन्न अवस्थायें—स्तुति में शृंगार और दिव्यता का समाहार—देवी की वन्दना में शृंगार और अलौकिकता—जयदेव की राधा—विद्यापति को राधा की परम्परा किस रूप में मिली—विद्यापति की राधा—प्रेम के विभिन्न रूप—मांसल शरीर और निश्छल हृदय—राधा का चरित्र—राधा तत्त्व—विरह के रूप—विद्यापति की राधा की मुख्य विशेषताएँ।

११—अपरूप के कवि १४९-१६३
अपरूप का अर्थ—दिव्य रूप की अभ्यर्थना—नखशिख—परिपाटी और परम्परा—विद्यापति का नखशिख-चित्रण—वैष्णव रूपोपासना और विद्यापति का सौन्दर्य-बोध।

१२—प्रकृति-परिवेश १६४-१७९
प्रकृति—भारतीय वाङ्मय में प्रकृति की अभ्यथना के रूप—प्रकृति के विषय में सौन्दर्य-शास्त्रियों के विभिन्न विचार—षड्ऋतु और बारह-मासा, शास्त्रीय पक्ष—भारतीय साहित्य में इन काव्य-रूपों का प्रयोग और इनके विकास की अवस्थायें—विद्यापति के काव्य में प्रकृति के दो रूप—वर्ण्य और उद्दीपन।

१३—सामाजिक-चेतना १८०-१९०
सामाजिक चेतना और सामाजिक यथार्थ—साहित्य में इनके परिग्रहण की सीमायें—बाल विवाह का विरोध—कूटनी नारी की वृद्धावस्था—कृष्ण राधा की सामान्य जीवन में अवतारणा—लोकतत्त्व का प्रयोग—विवृत्त आंगिक वर्णन—दृष्टकूट।

१४—गीति-काव्य : उदय और विकास १९१-२०५
गीति काव्य की परिभाषा—मूल तत्त्व—भारतीय गीतियों का इतिहास—विद्यापति के गीत—संगीतात्मकता—लोकगीतों का स्वर—आशावादिता

१५—अवहट्ठ-काव्य २०६-२२९
अवहट्ठ का मूल अर्थ—विभिन्न प्रयोग और उनके आधार पर अवहट्ठ का रूप-निर्धारण—अवहट्ठ की मुख्य रचनायें—कीर्तिलता और कीर्ति-पताका—कीर्तिलता का काव्य-रूप—साहित्य-सौन्दर्य।

व्यक्तित्व-विश्लेषण

ईस्वी सन् १००० से १२०० तक का भारतीय साहित्य नाना प्रकार की परस्पर-विरोधी भावधाराओं का संगम-स्थल हो गया था। विदेशी आक्रमण ने न केवल देश के शासन को नष्ट-भ्रष्ट किया बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति में भी भयंकर तब्दीली पैदा कर दी। यह परिवर्तन बहुत स्थूल और स्पष्ट नही था। बाढ के पानी की तरह विदेशी संस्कृति के बहुत से तत्त्व भारतीय संस्कृति में घुलमिल गए, इससे न केवल सामाजिक भूमि में ही परिवर्तन आया बल्कि अपरिचित भावधारा के इस आक्रमण के कारण देशीय संस्कृति को कई रूपों में 'स्वरक्षा' के लिए अपने को संकुचित करना पड़ा। वैसे भी यह काल भारतीय मनीषा का कुंठा-काल ही था। सामन्तवादी संस्कृति इतनी क्षयिष्णु थी कि उसमें नवजीवन का संचार असंभव हो गया था। स्थापत्य, चित्रकला, साहित्य और संगीत के अन्दर जीवनीशक्ति का स्थान चमत्कारिकता और कुतूहल-वर्धक कलाकारिता ने ले लिया था। साहित्यकार का दर्जा जीवन के द्रष्टा का नही रासायनिक का हो गया था, जो प्राणहीन सामन्तों के मन में कामेच्छा उत्पन्न करने के लिए दोहे और गाथाओं की गोलियाँ देते थे। विदेशी आक्रमण ने इन अड्डों को सदा के लिए उखाड़ कर फेंक दिया। घुन लगे मन के ये जर्जर जीव स्वयं नष्ट हो जाते, इसमें शक नहीं किन्तु विदेशी आक्रमण ने इस विनाश को थोड़ा और तीव्र कर दिया। दर्शन और धर्म के स्थान पर तंत्र-मंत्र, टोना-टटका और गुह्य साधनों की प्रधानता हो गई थी, इन भयोत्पादक चमत्कारों के प्रति जनता की श्रद्धा समाप्त होने लगी थी, भक्ति आन्दोलन ने इस गुहा-गह्वर के चमत्कारिकों को एकदम उखाड़ फेंका। अपभ्रंश साहित्य के अध्येता के लिए

यह निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है कि जहाँ इस प्रकार की कुंठा-ग्रस्त प्रवृत्ति का आधिपत्य था, साहित्यकार मुट्ठी भर दरबारियो के मनो-रंजन को कविकर्म की इयत्ता समझ रहे थे, चित्रकार कामकला और विविध आसन-मुद्राओं के चित्र खींचने मे ही मस्त थे, वहाँ अपभ्रंश में एकाएक इस तरह का जीवन्त, नवीन प्राणवान भावनाओं से स्फुरित और मानव मन की सरल सस्मित अनुभूतियों से अनुरंजित साहित्य कैसे लिखा जाने लगा। इस सत्य को समझने के लिए हमें इस काल के जन-जागरण को देखना होगा जो सामन्ती संस्कृति से आक्रान्त होकर सभ्यता से वंचित-उपेक्षित जीवन बिता रहा था जो संक्रमणकालीन परिस्थितियों में अपनी स्थिति के प्रति पुनः जाग्रत हुआ और एक नये वातावरण की सृष्टि करने में सफल हुआ। भक्ति आन्दोलन इस नवीन पुनर्जागरण का परि-णाम था। इसे मुट्ठी भर सामन्तों का नही, एक विशाल जन-समूह का संरक्षण प्राप्त था। विद्यापति इस नवीन जन-जागरण के चारण है। वैसे तो १४वीं शताब्दी से १६वीं तक का साहित्य अनेक प्रभादीप्त व्यक्तियों के समवेत आविर्भाव से गौरवान्वित हुआ है—बंगाल में चण्डी-दास, असम में शंकरदेव, मध्यदेश में कबीर, तुलसी, सूर, राजस्थान में मीराँ, गुजरात में नरसी मेहता इस जागरण के सन्देश-वाहक हैं, किन्तु विद्यापति का व्यक्तित्व कुछ निराला है। यह सत्य है कि संसार के किसी भी साहित्य में एक साथ इतनी महत् प्रतिभाएँ एकत्र शायद ही दिखाई पड़े, इनमें सबका व्यक्तित्व महान् है, 'को बड़ छोट कहत अपराधू', किन्तु जहाँ तक व्यक्तित्व का सवाल है मुझे यह कहने में संकोच नही कि विद्यापति की तरह स्वच्छन्द, गत्वर, रोमेण्टिक, व्यक्तित्व किसी और का नहीं।

व्यक्तित्व किसे कहते है? कवि के अध्ययन में इस व्यक्तित्व का क्या महत्व है आदि प्रश्नों पर मैं विस्तार से विचार करना नहीं चाहता, और न तो यहाँ आवश्यक ही है; किन्तु थोड़े में इतना जरूर कहना चाहूँगा कि व्यक्तित्व कवि का वह गुण है जो अज्ञात रूप से उसके साहित्य की उन तमाम वस्तुओं के लिए जिम्मेदार है जो दूसरो के साहित्य मे नहीं मिलतीं। व्यक्तित्व नाना प्रकार की विशेषताओं का वह सजीव

पुञ्ज है जो एक व्यक्ति को हजारों से अलग करता है। व्यक्तित्व वह रासायनिक प्रक्रिया है जो किसी व्यक्ति की सम्पूर्ण उपलब्धि को 'वह' बनाती है, जो वह है। किसी कवि के व्यक्तित्व का मतलब दो प्रकार से स्पष्ट होता है। उस कवि की आत्माभिव्यक्ति और उसके निर्मित चरित्रों, मन स्थितियों में उसकी आत्मा की छाया। एक कवि या लेखक अपने व्यक्तित्व को अपनी कृति से या तो पूर्ण अलग करेगा या उसमें अन्तर्निहित कर देगा। किन्तु व्यक्तित्व को अलग करके भी उसे अपने चरित्रों के माध्यम से अपने को व्यक्त करना पड़ेगा। इस प्रकार का विवाद वस्तुतः रोमेण्टिक काव्यधारा के साथ ही उपस्थित हुआ। रोमेण्टिक कवि अपने साहित्य में अपने व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति देता है। उदाहरण के लिए फिल्डिंग ने अपने व्यक्तित्व को अपने चरित्रों के माध्यम से व्यक्त करने की वस्तु बनाया, यानी चरित्रों के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति दी, जबकि रोमेण्टिक ह्यूगो ने अपने को चरित्रों में निक्षिप्त कर दिया। इसी के आधार पर लेखकों में वस्तुनिष्ठ, और व्यक्ति-निष्ठ दो श्रेणियाँ बन जाती हैं। प्रथम प्रकार के लेखक यानी वस्तुनिष्ठ अपने व्यक्तित्व की मूल विशेषताओं को भिन्न-भिन्न चरित्रों के माध्यम से तटस्थ होकर व्यक्त करते हैं जबकि व्यक्तिनिष्ठ लेखक एक ऐसा केन्द्रीय चरित्र प्रस्तुत करता है जो उसका प्रतिनिधि होता है, जो लेखक के मनोभावों को उसी प्रकार स्पष्ट करता है जैसे शीशा दर्शक के चेहरे की हर रेखा को हूबहू व्यक्त कर दिया करता है। जो भी हो दोनों प्रकार के लेखकों के साहित्य को समझने के लिए उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। व्यक्तित्व आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की विशेषताओं—जिनमें अच्छी-बुरी सारी बातें शामिल हैं, का मिश्रित रूप है, जो इनका योग-फल नही है बल्कि इन सबके मिश्रण से बनी एक ऐसी सजीव वस्तु है जो किसी व्यक्ति को उसकी अलग इकाई कायम रखने में सहायक होती है, अर्थात् उसे 'वह' बनाती है जो 'वह' है। इसमें व्यक्ति के सामाजिक, पारिवारिक, व्यावसायिक, धार्मिक,

वैयक्तिक जीवन का हर पहलू शामिल है। उसके जीवन के प्रेरणा-स्रोत, उसकी रुचियाँ, संस्कार, संसर्ग, प्रवृत्ति, आमोद-प्रमोद, प्रेम, आचार-विचार, व्यवहार, यहाँ तक कि उसका खान-पान, रीति-रिवाज, सब कुछ ज्ञातव्य है, क्योंकि इन सबसे मिलकर उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। गुण और दोष दोनों शक्कर और तेजाब की तरह एक ही स्थान से पैदा होते हैं। हिपोलाइते टेन ने व्यक्तित्व के निरीक्षण में तीन वस्तुओं को आवश्यक बताया है—कवि या लेखक का वंश-परिवार, पारिपार्श्विक परिस्थितियाँ और उस युग की विचारधारा तथा विश्वास।

विद्यापति का व्यक्तित्व नाना प्रकार की परस्पर विरोधी विचार-धाराओं का स्तबक है। इस व्यक्तित्व में इस प्रकार का परस्पर विरोध सम्भवतः उस युग का परिणाम है जिसमें विभिन्न प्रकार की देशी-विदेशी सांस्कृतिक विचार-धारायें संघर्ष-रत थीं। विद्यापति वस्तुतः संक्रमण काल के प्रतिनिधि कवि हैं, वे दरबारी होते हुए भी जन-कवि हैं, शृंगारिक होते हुए भी भक्त हैं, शैव या शाक्त या वैष्णव कुछ भी होते हुए भी वे धर्म-निरपेक्ष हैं, संस्कारी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने पर भी विवेक-संत्रस्त या मर्यादावादी नहीं हैं। इस प्रकार विद्यापति का व्यक्तित्व अत्यन्त गुम्फित और उलझा हुआ है—यह नाना प्रकार के फूलों की वनस्थली है, एक फूल का गमला नही। विद्यापति का व्यक्तित्व मिथिला की उस पृथ्वी की उपज है जिसमें धान की यौवनपूर्ण गंध और आमों के बौर की महक है। वह मिथिला जिसके स्वर्णगर्भित अंचलों में वाग्मती, कमला, गंडक और कोसकी की धारायें निरन्तर प्रवाहित हैं, जहाँ की काली अमराइयाँ नील मेघों से ढँकती हैं और शारद चन्द्र की चाँदनी से सुधास्नात होती रहती है, वह मिथिला जो तर्क-कर्कश पण्डितों के न्याय-शास्त्रीय वाद-विवादों और युवतियों के प्रेम-गीतों को एक साथ अपने हृदय में सुलाये रहती है।

विद्यापति संस्कारी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने पर भी तुलसीदास की तरह विवेक-संत्रस्त और मर्यादा से भाराक्रान्त नहीं थे। उन्हें अपने

ब्राह्मणत्व पर गर्व था। कीर्तिसिंह की प्रशंसा मे उन्होंने गर्व के साथ कहा था कि राजा और ब्राह्मण एक शरीर में एकत्र कम होते हैं, कीर्तिसिंह भूपति है और साथ ही भू-देव :–

ओइनी वंस पसिद्ध जग को तसु करइ न सेव
दुहुँ एकत्थ न पाविअइ भुअवइ अरु भूदेव

विद्यापति मिथिला के एक सम्पन्न ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न हुए जो अपने विद्या-प्रेम के लिए विख्यात था। कर्मादित्य, देवादित्य, जैसे पूर्वपुरुष न केवल विद्वान् थे बल्कि अपने समय के उच्च शासनाधिकारी भी थे। डा० सुभद्र झा ने लिखा है कि 'विद्वानों के ऐसे यशस्वी परिवार में विद्यापति का जन्म हुआ, जो अपने परम्परागत विद्या-ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था। कवि की रचनाओं में इस परम्परा का पूर्ण प्रतिफलन दिखाई पड़ता है।'[1] विद्यापति धर्म-दर्शन, भूगोल, न्याय आदि के प्रकाण्ड पंडित थे। शिवसिह के आदेश पर लिखे हुए पुरुष-परीक्षा ग्रन्थ में विद्यापति ने लिखा है:–

यो गौडेश्वरगज्जनेश्वर रणक्षौणीषु लब्धा यशो
दिक्-कान्ताचय-कुन्तलेषु नयते कुन्दस्रजामापदम्
तस्य श्रीशिवसिंह देव नृपतेर्विज्ञप्रियस्याज्ञया
ग्रन्थं ग्रंथिल दण्डनीतिविषये विद्यापतिव्वातनोत्

विद्यापति ग्रंथिल दण्ड-नीति में भी पारंगत थे। संस्कृत भाषा पर उनका कितना अधिकार था, इस ग्रन्थ को देखने से पता चलता है। विद्या, ज्ञान, ब्राह्मण-परम्परा सब कुछ उन्हे दायरूप में मिली थी। किन्तु इस प्रकाण्ड ज्ञान ने उनके हृदय के भाव-स्रोत को सुखाया नही, उन्हें भव-विमुख नही किया न तो उन्हे ससार अनित्य, मिथ्या और बुद्बुद् की भाँति प्रतीत हुआ। ब्राह्मणत्व कभी-कभी जोश पर भी आता था, खास तौर से मुसलमानों के आक्रमण के समय विजेताओं की संस्कारहीन प्रवृत्तियाँ और कुरुचिपूर्ण रीति-रिवाज उन्हें क्षुब्ध कर देते थे। कीर्तिलता में मुसलमानों के इस व्यवहार की उन्होंने बड़ी तीव्र भर्त्सन की है :–

1. Songs of Vidyapati page 20

अति गह सुमर षोदाए खाए ले भांग क गुंडा
बिनु कारणहि कोहाए बएन तातल तम कुंडा
तुरुक तोषारहिं चलल हाट भमि हेडा चाहइ
आडी दीठि निहार दबलि दाढ़ी थुक बाहइ
(२।१७४-७७)

कपूर के समान शुद्ध भोजन को तिरस्कृत करके प्याज-लशुन खाने वाले इन तुर्कों के कार्यो से विद्यापति को नफरत थी, क्योंकि वे जबर्दस्ती ब्राह्मण बटुक को पकड़ लाते थे और उनके शिर पर गाय का शोरवा रख देते थे :

धरि आनए बामन बटुआ, मथा चढ़ावए गायक चुडुआ
फोट चाट जनेऊ तोर, उपर चढ़ावये चाह घोर
गोर गोमर पुरिल मही, पैरहु देना एक ठाम नही
हिन्दू बोलि दुरहि निकार, छोटओ तुरुका भभकी मार
(२।२०२-११)

विद्यापति को अपनी प्रतिभा पर विश्वास था इसीलिए उन्हे अपनी कवित्व शक्ति और विद्या-बुद्धि पर अभिमान था। कवि के लिए अभिमान (Ego) भषण है यदि वह दूसरे का अहित करने वाला न हो। कवि अपने को संसार का जीव समझते हुए भी संसार से तटस्थ और साधारण जनों से थोड़ा भिन्न तथा ऊपर उठा हुआ समझता है। कबीर की अभिमानपूर्ण उक्तियों से घबरा कर लोग उन्हें गर्बीला कहते हैं। शुक्ल जी ने लिखा है कि कबीर अपने श्रोताओं पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। इसी से वे प्रभाव डालने के लिए बड़ी लम्बी-चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कहा करते थे।[1] किन्तु यह रोग कबीर का अकेला नही है। वर्तमान समय में वर्नर्ड शा को भी ऐसा ही रोग लगा था, शा ही क्यों जाने कितने कवि और साहित्यकार इस प्रवृत्ति के शिकार हैं। किन्तु यह रोग नही, कवि की ओर से उन तमाम कष्टों और साधनाओं का प्रतिकार है जिनके

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७६

बाद भी उसे संसार से प्रतिदान नही मिलता। इसलिए यह अभिमान कभी-कभी प्रतिक्रिया से भी उत्पन्न होता है। वैसे साधारण तौर से यह कवि के मन के आत्मविश्वास का ही द्योतक है। कबीर का आत्म-विश्वास उस समाज की प्रतिक्रिया थी जो तथाकथित उच्च जातियो से आक्रान्त था। कबीर के मन में हीनता की ग्रन्थि न थी 'इसीलिए यह विश्वास उनमें इतनी अधिक मात्रा में था कि कभी-कभी पंडितों को इसमें गर्वोक्ति की गंध आती है, उनमें युगप्रवर्तक का विश्वास था और लोक-नायक की हमदर्दी।'[१]

विद्यापति का आत्मविश्वास दूसरे प्रकार का था। वे हीनता ग्रन्थि के शिकार होने की आशंका भी नही कर सकते थे इसीलिए कबीर की तरह अतिरिक्त आत्मविश्वास या गर्वोक्ति भी उनमे नही है। उनका आत्मविश्वास स्वतःचालित था, दरबारों में रहनेवाले कवियों में ईर्ष्या-द्वेष की भावना रहती ही है। नवयुवक विद्यापति का इतनी चमत्कारिक प्रतिभा के साथ आगमन ईर्ष्या का विषय रहा होगा। कीर्तिलता में उन्होंने लिखा है–

महुअर बुज्झइ कुसुम रस कव्व कलाउ छइल्ल
सज्जन पर उअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल।
(१।१७-१८)

किन्तु इन दुर्जनों से विद्यापति को किंचित् भी आशंका नहीं थी क्योंकि द्वितीया का चन्द्र कभी कलंकित नहीं होता, वह सदा ईश-मस्तक पर ही सुशोभित होता है–

बालचन्द बिज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नायर मन मोहइ

विद्यापति मध्यकालीन कवि श्रीहर्ष की तरह एक ओर न्याय के ग्रंथिल पथ पर विचरण करते थे तो दूसरी ओर प्रेम की कुसुम-सज्जित

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ९६

वीथियों में। उनके लिए दोनों में कोई अन्तर नही था। उन्होंने सुकुमार साहित्य भी लिखा और 'दृढ़ न्याय ग्रह ग्रंथिल' पथ पर भी चले। भारती उनकी पति-परायणा पत्नी की तरह थी, जो उनके साथ दर्भाकुंरन्यस्त भमि पर या मृदूत्तरच्छदवती शय्या पर समान रूप से विहार करती थी। विद्यापति ने सरस्वती की वन्दना में एक श्लोक लिखा है, जिससे उनके मन के इस भाव की पुष्टि होती है—

द्वाः सर्वार्थसमागमस्य रसनारंगस्थली नर्तकी
तत्वालोकन-कज्जलध्वजशिखा वैदग्ध्यविश्रामभूः
शृंगारादिरसप्रसाद-लहरी स्वर्ल्लोक-कल्लोलिनी
कल्पान्तस्थिरकीर्तिसंभ्रम-सखीं सा भारती पातु वः।

(१।३)

उन्होंने अपनी कविता के बारे में कीर्तिलता के अन्तिम श्लोक में कहा है—

माधुर्यप्रसवस्थली गुरुयशो-विस्तार शिक्षासखी
यावद्विश्वमिदंच खेलनकवेर्विद्यापतेर्भारती

विद्यापति की भारती माधुर्य रस की प्रसवस्थली है। भारती उनकी रसना पर निरन्तर नर्तकी की तरह क्रीडा किया करती है, वह सभी प्रकार के अर्थों के लिए द्वार रूपा है। एक तरफ उसके प्रकाश में गूढ़ तत्त्वों का आलोकन होता है, दूसरी ओर वह विलास-विदग्ध जनों के लिए विश्राम-स्थल भी है।

विद्यापति दरबारी कवि थे। दरबारी कवि होना कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाती। मध्ययुग के दरबारी कवियों के प्रति हमारे मन में श्रद्धा का प्रायः अभाव पाया जाता है क्योंकि हम यह मानते हैं कि इस प्रकार के कवियों ने कविता को जन-मानस की अधीश्वरी के स्थान से हटाकर उसे दरबार की नर्तकी बना दिया। उन्होने काव्य के महत् उद्देश्य के साथ व्यभिचार किया किन्तु विद्यापति इनसे भिन्न हैं। दरबारों के चाकचिक्य, भोग-वैभव और दमघोंट वातावरण में उनकी आत्मा मरी नहीं। दरबारों से उन्होंने जीवन का रस ग्रहण किया।

उस वातावरण से उन्होंने कई प्रकार के अनुभव प्राप्त किये जिनसे उनके जीवन में एक विशेष प्रकार का अभिजात संस्कार पैदा हुआ। उन्होंने कभी भी अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए अत्युक्ति की शरण न ली, कवियों के लिए उस समय राजा के अलावा दूसरा आश्रय भी कहाँ था ? वे अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त की तरह यह नहीं कह सके कि वल्कल धारण करके गिरि-कन्दराओं में निवास करते हुए, वन के फल-फूल खाकर दारिद्र्य से शरीर को कष्ट देकर जीवन बिता देना श्रेयस्कर है पर किसी राजा के सामने नतमस्तक होकर अभिमान का खंडन कराना नही —

वक्कल निवसणु कंदर मंदिरु वण हल भोयन वर ते सुन्दर
वर दालिद्द सरीरह दण्डनं, णहि पुरिसह अभिमान विहडणु

किन्तु दरबारों में रहते हुए भी विद्यापति ने इस अभिमान को कभी बेचा नही, कीर्तिसिंह को बार-बार स्वाभिमान की चेतावनी देते हुए जैसे विद्यापति अपने मन के गौरव को ही जाग्रत किया करते है :—

मान बिहूना भोअना सत्तुक देओल राज
सरन पइट्ठे जीअना तीनू कायर काज

आश्रयदाता राजा को विपन्नता में उन्होंने आश्वासन दिया, इब्राहिम शाह से साहाय्य-याचना करनेवाले राजा के आश्रित कवि होकर भी उन्होंने मुसलमानी अत्याचार को शिरसा स्वीकार नही किया, तत्कालीन बादशाह के शासन की दुर्व्यवस्था का उन्होंने नग्न चित्रण प्रस्तुत किया। दरबार मे विद्यापति का सम्मान भी कम न था, वे कीर्तिसिंह के केवल आश्रित कवि नही, मित्र भी थे। शिवसिह के शासन-काल मे कवि को जो सम्मान मिला वह अभूतपूर्व था। विद्यापति ने अपने जीवन-काल मे न जाने कितने राज बनते-बिगड़ते देखे थे। उहोने देखा था कि विपत्ति की आँधी मे बड़े-बड़े पेड़ कैसे उखड़ते है। विद्यापति दो दर्जन के करीब राजाओ, नवाबो आदि के आश्रय मे रहे। सम्पूर्ण जीवन राजदरबारो मे बिता देनेवाले विद्यापति ने अपने कृतित्व को कभी भी दरबारी छाया से कलंकित नहीं किया। उनके गीतों में दरबारी संस्कृति की नही, जनता

के मानस की आवाज है। उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम में सामान्य जनता के सुख, दुख मिलन-विरह को अंकित किया है। वे एकाधिक रानियों, राजकुमारियों के सम्पर्क में आये। दरबार के क्रिया-कलाप को नजदीक से देखा। असली सौन्दर्य वहाँ उपेक्षित था, बाह्य रूप की पूजा होती थी, विद्यापति ने इस सौन्दर्य को देखा था जो दरबारों में एकत्र किया जाता है। उन्होंने उस सौन्दर्य को उसकी असली पृष्ठभूमि प्रदान की, उसे धरती पर उतार कर रखा, उसे चहारदीवारी के घेरे से निकाल कर नदी-तट अमराइयों और खेतों में प्रतिष्ठित किया। कीर्तिलता में दरबार के वर्णन बड़ी बारीकी से चित्रित है, नगर के वर्णन वेश्याओं के वर्णन, उनकी सूक्ष्म दृष्टि के परिचायक है। किन्तु विद्यापति का मन जैसे इस वातावरण में सन्तुष्ट नहीं है, वह कुछ और खोजता रहता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि विद्यापति दरबारी कवि होते हुए भी जन-कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता में इन दोनो भावधाराओं का समन्वय कर दिया है। आप विद्यापति को हिन्दी रीतिकालीन कविता का जन्मदाता भी कह सकते है, नखशिख वर्णन में विद्यापति की उक्तियाँ अनमोल हैं, परवर्ती रीतिकाल के कवियों के वर्णन इनके सामने पिष्टपेषण लगें तो आश्चर्य नहीं। विद्यापति को दूसरी ओर भक्तिकाल का पहला कवि भी कह सकते है क्योंकि उनकी कविता में जन-मानस का प्रतिफलन है—वह जन-मानस जो उस युग में भगवान् की सगुण और निर्गुण विभूतियो के सामने अपने हृदय का अनन्य प्रेम नाना रूपों में निवेदित कर रहा था।

विद्यापति सौन्दर्योपासक कवि थे। सौन्दर्य को उन्होंने देखा था, अनुभव किया था। वे सौन्दर्य के वायवी रूप के प्रति आकृष्ट होनेवाले रहस्यवादी नहीं थे, वे सौन्दर्य को बिल्कुल साक्षात् स्थूल रूप में देखने के अभ्यासी थे। सौन्दर्य उनके लिए सबसे बड़ा धर्म है, सबसे बड़ा कर्म। सौन्दर्य उनकी आँखों के सामने नाना रूपों में आता है, और विद्यापति सौन्दर्य के स्वागत में निरन्तर जागरूक दिखाई पड़ते हैं। वस्तु का गुण वस्तु में नहीं वस्तु को पहचाननेवाले की आँखों में निहित होता है।

विद्यापति के पास वह आँख थी, वस्तु के रूप को परखने का अणुवीक्षण यंत्र था उनके पास, जिसकी सीमा में आकर रूप का एक अणु भी उनकी दृष्टि से बच नहीं सका। सौन्दर्य को वे अपरूप कहते थे—अपरूप जो मनुष्य के मन में पुलक, प्राणों में शक्ति और शरीर में रोमांच भर दे। अपरूप एक ऐसी ताकत है जो सम्पूर्ण विश्व के अणु-परमाणु में चेतना का संचार करती है। इस सौन्दर्य की सबसे बड़ी विशेषता है चिर नतनता। प्रत्येक क्षण यह सौन्दर्य नूतन वेश में आता है। विद्यापति कहते हैं मैं जाने कितने जन्मों तक तुम्हारे इस रूप को देखता रहा, पर आँखें, तृप्त नहीं हुईं—

सखि कि पूछसि अनुभव मोए
से हो पिरित अनुराग बखानिए
तिल तिल नूतन होये
जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल
सेहो मधु बोल स्रवनहिं सूनल
स्रुति पथ परस न भेल

जो लोग विद्यापति के नखशिख वर्णन को शृंगार की आसक्ति का परिणाम मानते हैं वे भूल जाते हैं कि सौन्दर्य का उपासक कवि सौन्दर्य का भोक्ता नहीं निर्माता भी होता है। वह शारीरिक सौन्दर्य को आँखों की वस्तु मानता है किन्तु हृदय को तृप्त करने के लिए कुछ और चाहिए जो मात्र मांसल सौन्दर्य में उपलब्ध नहीं है, वह 'कुछ ही' विद्यापति का अपरूप है, सांसारिक होते हुए भी उससे थोड़ा भिन्न। रमणीयता की परिभाषा देते हुए उसकी 'क्षण-क्षण परिवर्तित नूतनता' को आवश्यक गुण बताया जाता है, विद्यापति भी इसीलिए केवल नूतन सौन्दर्य के उपासक हैं—उन्होंने इसे चिरनूतन यौवन, अभिराम यौवन का सम्बोधन दिया है। विद्यापति इस नवयौवन के सौन्दर्य को देखकर नव वसन्त के आगमन पर आम्र गन्ध से प्रमत्त कोकिल की तरह कूक उठते हैं—

नव वृन्दावन नव नव तरु गन

नव नव विकसित फूल
नवल वसन्त नवल मलयानिल
मातल नव अलि कूल
बिहरइ नवल किसोर
कालिन्दी पुलिन कुंज वन सोभन
नव नव प्रेम विभोर

सौन्दर्य की पिपासा जब कवि के मन में जगती है तो उसे प्रकृति की प्रत्येक वस्तु सुन्दर लगती है, क्योंकि उसे अपने आदर्श सौन्दर्य की छाया ही सर्वत्र दिखाई पडती है। दुनिया मे कोई वस्तु बुरी नहीं। बुरी वस्तु भी कम बुरी नजर आती है यदि वह हमारी कल्पना का विषय बन सके। 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' मे एक स्थान पर शेक्सपियर ने लिखा है–[1]

'इस श्रेणी मे सबसे सुन्दर वस्तुये भी क्या है? केवल छायायें। सबसे बुरी वस्तु भी अधिक बुरी नही हो सकती यदि कल्पना से उसका परिष्कार करें।'

संसार की प्रत्येक वस्तु सुन्दर है, फिर भी इन वस्तुओं के आधार पर अपरूप का वर्णन सम्भव नहीं। कवि विद्यापति उस मायिक सौन्दर्य को अनिर्वचनीय समझ कर कहते है—

अमियक लहरी वम अरविन्द
विद्रुम पल्लव फुल्लल कुन्द
निरवि निरवि मै पुनु पुनु हेर
दमन लता पर देखल सुमेरु
साँच कहों मै साखि अनंग
चान्दक मंडल जमुना तरंग
कोमल कनक केआ मुति पात
मसि लए मदने लिखल निज बात

1. The best in this kind are but shadows and the worst are no worse if imagination amends them.

पढ़हि न पारिअ आखर पांति
हेरइत पुलकित ह्ो तनु काति
भनइ विद्यापति कहुओ बुझाए
अरथ असंभव के पतिआए

पद्म अमृत लहरी का उद्गीरण करता है, प्रवाल पल्लव में कुन्द-फूल फूले। मैंने बार-बार देखा है। दमनक लता में सुमेरु छिपा है। मै आपसे सच कहता हूँ, विश्वास कीजिए, मै अनंग की शपथ लेकर कहता हूँ मैंने चन्द्र मंडल में यमुना-तरंग देखी। कोमल स्वर्णमूर्ति निर्मित पत्र मे मदन ने मसि लेकर अपनी कथा लिखी। मै उन अक्षरों की पंक्ति पढ़ न सका, केवल देखकर शरीर रोमांच से भर गया। विद्यापति कहते हैं कि मै कितना भी समझाऊँ, इस असंभव है पर विश्वास कौन करेगा ?

कवि के मन की यह शंका ही उसकी शक्ति है। सौन्दर्योपासक कवि के लिए सबसे बड़ी दुर्बलता उसकी वह आसक्ति होती है जो उसे वर्ण्य वस्तु के ऐन्द्रजालिक मायाजाल से बाहर नहीं निकलने देती। यह आसक्ति या तन्मयता कवि के लिए घातक होती है, विद्यापति सूरदास की तरह कृष्ण की मोहनी छवि पर निछावर नही होते, न तो वे अपने को उस धारा में बहा देते हैं बल्कि वे निरन्तर उस सौन्दर्य से तटस्थ होकर उसकी दैवी-शक्ति की, चुम्बकीय आकर्षण की व्याख्या करने का प्रयत्न करते है। उन्हें विश्वास नहीं कि वह शक्ति मेरे बार-बार समझाने पर भी स्पष्ट होगी। वे प्रेमातिरेक में यह नही कहते कि मैं उस कोटि मन्मथ को पराभूत करनेवाली छवि पर निछावर हूँ। चण्डीदास और विद्यापति की रूपाशक्ति की विवेचना करते हुए निराला जी ने लिखा है कि 'विद्यापति सौन्दर्य के स्रष्टा भी जबर्दस्त थे और सौन्दर्य में तन्मय हो जाने की शक्ति भी उनमें अलौकिक थी। कवि की यह बहुत बड़ी शक्ति है कि वह विषय से अपनी सत्ता को पृथक् रखकर उसका विश्लेषण भी करे और अपनी इच्छानुसार उसमें मिलकर एक भी हो जाये। चण्डीदास में केवल तन्मयता की शक्ति ही प्रस्फुटित हो सकी है।'[१]

---

१. विद्यापति और चण्डीदास, प्रबन्ध प्रतिमा, प्रथम संस्करण, १९४० ई० पृ० १५१।

सौन्दर्य विद्यापति के मन में सस्ता उल्लास नहीं बल्कि गम्भीर पीड़ा का संचार करता है, यह पीड़ा सौन्दर्य की शाश्वत शक्ति का द्योतक है, कवि बार-बार उस रूप के प्रथम दर्शन के बाद उत्पन्न वैचित्य का वर्णन करता है जो नायक और नायिका दोनों के हृदय को भयंकर पीड़ा से जड़ीभूत कर देता है। पीड़ा का आविर्भाव साधारण कोटि के रूप के दर्शन से नही होता। विद्यापति का व्यक्तित्व इस स्थिति का स्पष्टीकरण कर सकता है। विद्यापति ने सैकड़ों प्रकार के रूप देखे। रानियो-राज-कुमारियों के, नर्तकियों के, ग्राम बालाओं के, सद्यःस्नाता नारियों के, किन्तु इस रूप ने उनके मन में एक ऐसे रूप-दर्शन की प्यास जगाई जो भोक्ता की तरह मांसल रूप के सम्पर्क से तृप्ति-लाभ नही चाहता बल्कि एक ऐसी नैसर्गिक पीड़ा को जन्म देता है जो कवि के मन को व्याकुल कर देती है यह शरीर की पीड़ा नही है, मन की पीड़ा है–

सपनेहु न पूरल मन के साध
नयन देखल हरि एत अपराध
मन्द मनोभव मन जरे आगी
दुलभ पेम भेल पराभव लागी
अबुध सखी जन बुझए न आधी
आन औषध कर आन बेआधी
मनसिज मन के मन्दि वेवथा
छाड़ि कलेवर मानस बेथा–

सपने में हरि को देखने की साध भी पूरी न हुई। मैंने आँखों से हरि को देखा है, इतना ही मेरा अपराध है। मन्द भावनाओं की अग्नि में मन जल रहा है। लगता है यह दुर्लभ प्रेम मुझे पराभव देने के लिए ही पैदा हुआ है। भोली सखियाँ कुछ नही समझ पातीं, रोग कुछ और है वे दवा कुछ और दे रही है। मनसिज ने तो मन की व्यवस्था ही हर ली। यह रोग शरीर का नहीं, मन का है।

प्रेम विद्यापति के काव्य की सबसे बड़ी प्रेरणा है। वे पूर्णतः प्रेमिक

कवि थे। सौन्दर्योपासक कवि बिना प्रेमी हुए रह ही नही सकता। वस्तुतः सौन्दर्य की परिभाषा ही यह है। सुन्दर उसी वस्तु को कहा जाता है जो प्रेम की वस्तु हो सके। जिस वस्तु के प्रति प्रेम न हो वह सुन्दर नही हो सकती अथवा कोई सुन्दर वस्तु बिना प्रेम की वस्तु बने रह नही सकती। गिलबर्ट मुरे (Gilbert Murray) ने लिखा है कि सौन्दर्य वह है जो देखा जाकर प्रेम का विषय बनता है। प्रेम मनुष्य की वैयक्तिक सम्पत्ति है। किन्तु यह प्रेम जब कविता या कला के माध्यम से व्यक्त होता हैं तो सार्वजनिक हो जाता है इसीलिए रिवेका वेस्ट का कहना है कि प्रेम और कला के बीच यही सम्बन्ध है कि प्रेम जिसे व्यक्ति की थाती बनाये है कला उसे विश्व की निधि बना देती है। प्रेम मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। शुक्ल जी की भाषा में कहें तो, 'जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव विद्वान् की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक बराबर फैला दिखाई दे, उसे हम भगवान् का अनुग्रह समझते हैं।' संसार के कई महापुरुषों के जीवन में इस प्रेम ने ही प्रेरणा का कार्य किया है। प्रसिद्ध कवि दान्ते इस प्रेम को अपने जीवन की सबसे बड़ी प्रेरणा-शक्ति कहा करते थे। उन्होंने कहा है कि 'मैं वह हूँ जिसके जीवन में प्रेम यदि प्रोत्साहन दे तो लिखता हूँ। प्रेम मेरे अन्तर्मन में जैसे कहता है, मै वैसे ही उसे व्यक्त करता हूँ।'[१]

राधा और कृष्ण के महत् प्रेम को समझने के लिए हमें विद्यापति के उस विश्वास को समझना होगा जिसें उन्होंने प्रेम से अर्जित किया था। बिना प्रेरणा के कोई काव्य नहीं होता, काव्य तो क्या, संसार का कोई भी बड़ा कार्य महती प्रेरणा के बिना संभव नही है। प्रेरणा हमेशा सांसारिक परिचित वस्तु से उत्पन्न होती है, किन्तु यह प्रेरणा हृदय में

---

1. I am one who when love
Inspires me, note, and in the way that he
Dictates within, I give the out word form

एक ऐसे भाव-स्रोत को जन्म देती है जो हमारे लिए एकदम नया और शक्तिपूर्ण होता है। प्रेम की इस प्रेरणा को शेली कविता की प्राण-धारा कहा करता था। शेली ने लिखा है कि 'कविता कोई तर्क नही है कि इच्छा की और प्रक्रिया शुरू हो गई। कविता के सृजन के समय कवि-मस्तिष्क बुझे हुए कोयले की तरह रहता है, बस हवा का एक झोंका आया, एक अनजाने प्रभाव से वह उसे जगा जाता है। यह शक्ति हृदय के भीतर से उठती है, फूल के रंग की तरह जो कविता को जन्म देकर खुद खत्म हो जाती है।' क्या यह प्रेरणा कवि के मन में हमेशा के लिए बनी रहती है? शेली कहता है 'नहीं, सृजन की प्रक्रिया में ही यह बहुत कुछ समाप्त होने लगती है, और संसार की सर्वश्रेष्ठ कवितायें प्राय: वही हैं जिनमें प्रेरणा के मूलरूप की धूमिलतम छाया ही शायद बची रह-गई।'[1] प्रेम की महान् कविताओं को पढ़नेवाले सहस्रों पाठकों को क्या पता कि इस मामूली सी अनजान प्रेरणा ने कवि के मन को इतने महत् कार्य के लिए प्रेरित किया था।

संसार के अन्य श्रेष्ठ कवियो की तरह विद्यापति के विषय मे भी एक किम्वदन्ती चलती है। कहा जाता है कि राजा शिवसिंह की सुन्दरी पत्नी रानी लखिमा से विद्यापति का प्रेम था। लखिमा बहुत सुन्दरी थीं साथ ही वे उच्चकोटि की कवयित्री और काव्यमर्मज्ञा भी थीं। कुछ संस्कृत के श्लोक लखिमा ठकुरानी के विरह गीत नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार के एक श्लोक में विरह की व्यथा का चित्रण किया गया है। चक्रवाक कमल-नाल को तोड़कर खाना चाहता है किन्तु कमल-तन्तुओं को चन्द्रमा की किरणे समझ कर नही खाता, कमल के पत्रों पर पड़ी हुई बूँदों को तारा समझ कर प्यासे होने पर भी वह उन्हें पीता नहीं, कमलो की काली छाया में मँडराते हुए काले भँवरों को देखकर उसे संध्या का आभास होने लगता है, इस प्रकार कान्ता के विश्लेष की आशंका मात्र से ही चक्रवाक दिन को रात्रि मानता है :—

---

१. Defence of Poetry

भुक्त्वा भोक्तुं न भुंङक्ते कुटिल विषलतां कोटिमिन्दोर्वितर्का-
त्ताराकारात्तृषार्तः पिवति न पयसां विप्लुषः पत्रसंस्थाः
छायाम्भोरुहाणामलिकुलशवलां वीक्ष्य सन्ध्यामसन्ध्यां
कान्ताविश्लेष–भीरूदिनमपि रजनीं मन्यते चक्रवाकः

यह श्लोक ग्रियर्सन ने लखिमा ठकुरानी के विरह गीत शीर्षक से इंडियन ऐंटिक्वेरी में प्रकाशित कराया था। सहजिया सम्प्रदाय के वैष्णव भक्त विद्यापति को अपने सात श्रेष्ठ रसिक भक्तो में एक मानते है। इन सातो में प्रथम विल्वमंगल है, जिन्होंने यौवनारंभ में चिन्तामणि वेश्या से प्रेम किया था, बाद में विरक्त होकर बहुत बड़े भक्त हुए। इनका विश्वास है कि इसी तरह विद्यापति का राजा शिवसिंह की पत्नी लखिमा से गुप्त प्रेम था।[१] बंगाली कवि नरहरि दास ने तो अपने एक पद में लिखा है कि लखिमा राधा की प्रतिमा है, जब वह आँखों के सामने होती है तब कविता शत धाराओ में फूट पड़ती है :—

लछिमा रूपिनि राधा इष्ट वस्तु जाव
जवे देखि कविता स्फुरय शत धार

संभव है लखिमा की कहानी पूरी जनश्रुति या कपोलकल्पना ही हो, यह भी संभव है कि इस कहानी में कुछ सत्य भी हो। जो भी हो इतना सत्य है कि पदावली के सर्वश्रेष्ठ गीत लखिमा और उनके पति शिवसिंह को समर्पित हैं। संयोग-शृंगार के अत्यन्त मधुर गीतों में विद्यापति ने लखिमा को साक्षी की तरह उपस्थित किया है। श्री विमान विहारी मजूमदार ने लिखा है कि "पदावली के १९८ पदों में शिवसिह लखिमा का नाम आता है। लखिमा का नाम बहुत से पदों में शिवसिंह के साथ आया है, कुछ में केवल शिवसिह का।" कुछ पदो में ऐसा भाव है जिसे विद्यापति इन पदो को शिवसिह और लखिमा देवी के सामने पढ़ रहे हैं पर कहीं-कही ऐसा भी आता है कि शिवसिह गाते हैं—

१. कीर्तिलता, बँगला संस्करण, भूमिका, पृ० १८।

२. विद्यापति पृ० १८।

राजा शिवसिह गाओलएत
लखिमा देवी उदार (पद ४०)[1]

इन पदो मे एक बात का पता अवश्य लगता है कि विद्यापति का राजा-रानी के साथ सख्य-भाव का सम्बन्ध था अन्यथा इस प्रकार की शृगारिक बाते इतने स्पष्ट ढग से कहना कठिन होता। क्योकि प्रत्येक पद मे शृगार चेष्टाओ का वर्णन करके कवि ने कहा है कि इस रस को राजा शिवसिंह और लखिमा जानते है। या लखिमा के रमण राजा शिवसिह जानते है, या वे राजा शिवसिह जानते है जो लखिमा के साथ रमण करते है।

प्रेम की प्रेरणा से मेरा यह तात्पर्य नही था कि मै विद्यापति के जीवन के गुप्त प्रेम-व्यापारो को स्पष्ट करूँ। यह न आवश्यक है न उचित और न तो संभव ही। प्रेम की प्रेरणा का मतलब है प्रेम के विषय मे कवि के विचार। वह प्रेम को किस दृष्टि से देखते है, प्रेम के विषय मे उनके क्या विश्वास है, क्या धारणाये है। प्रेम के विषय में प्रत्येक कवि की भिन्न-भिन्न धारणायें होती है। बहुत से उसे केवल चिन्तन का विषय मानते है, बहुत से उसे वायवी या काल्पनिक कहते है, बहुतो के लिए इन्द्रिय-तृप्ति ही प्रेम है। इस प्रकार की मान्यताओ के कारण प्रेम के दोनों पक्षों संयोग और वियोग के बारे मे इनकी धारणाओ में अन्तर आता है। विद्यापति चाक्षुष मैत्री या प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम का वर्णन अवश्य करते हैं। राधा और कृष्ण दोनों एक क्षण के लिए एक-दूसरे के रूप को देखकर ही आकृष्ट हो जाते हैं। इसे तारक-मैत्री कहते हैं, शुक्ल जी ने इस प्रकार के प्रथम दर्शन के प्रेम को साहचर्य जनित प्रेम से हीन कोटि का बताया है। विद्यापति स्वयं प्रेम को साहचर्य का ही परिणाम मानते है। प्रेम के विषय मे विद्यापति की धारणाएँ इतनी ऊँची है, वे इसे इतनी महत् वस्तु मानते हैं कि वे उसे केवल मासल इन्द्रिय-तृप्ति का साधन समझ ही नही सकते। मै यह नही कहता कि

[1]. विमान विहारी मजूमदार–सम्पादित विद्यापति में पद संख्या दी है।

विद्यापति प्लेटोनिक प्रेम के पक्षपाती थे, बिल्कुल नहीं। वे आंगिक मिलन के सुख की भी कम अभ्यर्थना नही करते। किन्तु यह सब शरीर-व्यापार है, प्रेम यही तक सीमित नही है। विद्यापति कहते हैं कि प्रेम तो फूल का पौधा है। इस फूल को गोपाल ले आए और फुलवारी में लगा दिया। प्रेम-पूर्ण वार्ता के जल से निरन्तर यह सींचा गया। शील और मर्यादा के घेरे बाँध कर इसकी रक्षा की गई, फूल का नन्हा पौधा प्राण के खंभे पर अवलंबित रहा। और एक दिन इसमे अभिनव प्रेम का पुष्प फूला। जो अमूल्य था, लाखों स्वर्ण मुद्राये इसके सामने कुछ नही थीं। यह अत्यन्त सुन्दर पुष्प और भी विकसित हुआ तब दो जीव जो अलग-अलग थे, सदा के लिए एक हो गए। इस फूल को सदा निन्दा और असूया के कीड़ो से बचाया गया, साहस ने इस फल को दिया।

फूल एक फुलवारी लाओल मुरारी
जतने पटाओल सुवचन वारि
चौदिस वान्हल सीलक आरि
जिवे अवलम्बन करु अवधारि
ततहु फुलल फुल अभिनव पेम
जस मुल लहए न लाखहु हेम
अति अपरुव मेम परिणत भेल
दुइ जीव अछल एक भइ गेल
पिसुन कीट नही लागल ताहि
साहस फल देल विहि निरवाहि
विद्यापति कह सुन्दर सेहु
करये जतन फल मत होए जेहु

संयोग के दिनों में जो विद्यापति मिलन की नाना मुद्राओं के मादक वर्णन से अपने काव्य को आनन्दातिरेक से भर देते है वही विरह के दिनों में सारी सृष्टि को आठ-आठ आँसू रुलाने की क्षमता भी रखते है। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि विरह के गीतों मे से अधिकांश किसी राजा या

आश्रयदाता को समर्पित नहीं हैं। विद्यापति इन गीतों के स्वयं भोक्ता और साक्षी हैं। इन गीतों में विद्यापति की आत्मा रोती है और वे बार-बार प्रिय-मिलन की आशा बँधाकर अपनी आत्मा में रोती हुई विरहिणी को चुप कराते हैं। संभवतः ये गीत उस समय लिखे गए जब वे किसी राजा के आश्रय में न थे, दिन दुःख के थे, दरबारी वैभव और आमोद-प्रमोद से वे घिरे न थे। इस प्रकार की परिस्थिति शिवसिंह की मृत्यु के बाद पैदा हुई थी। बहुत दिनों तक वे अपने सखा राजा की मृत्यु से उदास और खिन्न रहे होंगे। इन्ही दिनों उन्होंने विरह के ये गीत लिखे। पता नही इस प्रकार के विरह गीतों के निर्माण में लखिमा की स्मृतियों ने कितना योग-दान किया किन्तु इसमे शक नही कि ये गीत कवि की अन्तरात्मा की आवाज हैं। बहुत से लोग विद्यापति के संयोग शृगार वाले पदो को देखकर ही उनके स्वभाव का विश्लेषण कर देते है। वे कहते है कि राधा बडी विदग्धा है, कामुक है। विद्यापति घोर शृंगारिक है, किन्तु विरह ने विद्यापति की आँखों से कितना आँसू गिराया इसे कोई नही देखता। रवीन्द्र नाथ ने चंडीदास और विद्यापति के प्रेम-गीतो की तुलना करते हुए लिखा है कि विद्यापति सुख के कवि है और चण्डीदास दुःख के। विद्यापति विरह में कातर हो उठते है और चण्डीदास को मिलन मे भी सुख नहीं। विद्यापति जगत में प्रेम को ही सार मानते हैं और चण्डीदास प्रेम को ही जगत् समझते हैं। विद्यापति भोग के कवि थे चण्डीदास सहन के। वस्तुतः इस तरह का कथन विद्यापति की उन कविताओं पर लागू होता है जो केवल संयोग शृंगार की हैं। डा० विमान बिहारी मजूमदार ने ठीक ही लिखा है कि "राजनामांकित पदो मे केवल ३० पद विरह के हैं। ऐसे ही पदों को देखकर रवीन्द्रनाथ ने ऐसा लिखा था। राजसभा के वातावरण में जो पद नही लिखे गए थे उन्हें कवि ने अपने दुःख के दिनो में अकेले बैठकर रचा था। उनमें गभीरतर वेदना, निविडतर आनन्द और अतीन्द्रिय अनुभूति की छाप है।"[१] 'विद्यापति के विरह-गीत इतने कारुणिक और व्यथा से भरे है कि उन्हे खाली भोग के गीत

१. विद्यापति, पृ० ४६।

कहना उनके साथ अन्याय होगा। राधा अपने विरह में कृष्ण के सम्मिलन की आकाक्षा से पीड़ित अवश्य है किन्तु उसके हृदय की स्वाभाविक वेदना को कातरता कहना उसका अपमान करना है। राधा ऐसी कातर नही है। वह तो यहाँ तक कह सकती है:—

माधव हमर रहल दुर देस
केओ न कहइ सखि कुसल सनेस
युग युग जीवथु वसथु लाख कोस
हमर अभाग हुनक नाहि दोस
हमर करम भेल विहि विपरीत
तेजलनि माधव पुरुविल प्रीत
हृदयक वेदन बान समान
आनक दुःख आन नहि जान

कृष्ण कहीं भी रहें, सुख से रहें, हम अपने दुःख को सह लेंगे, यह हमारा दुःख हमारे कर्मों का परिणाम है फिर उनका दोष क्या ? सूरदास की राधा की प्रशंसा करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है; 'जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है वहाँ प्रेम का अत्यन्त निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यन्त उच्च भूमि पर होती है, वहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नही हो सकती।' (लोभ और प्रीति) विद्यापति इसी तरह के प्रेम की अभ्यर्थना करते हुए कहते हैं:—

सुजन क प्रेम हेम सम तूल
दहइत कनक दिगुन होय मूल
टूटइत नहि टुट प्रेम अदभूत
जइसन बढ़ए मृनाल क सूत

यह प्रेम कनक की तरह मूल्यवान है जो विरह की अग्नि में तप-तप कर शुद्ध हुआ है, यह प्रेम ऊपर से टूटा हुआ दिखाई पड़ सकता है, परिस्थितियाँ दो व्यक्तियों को अलग कर सकती है, किन्तु जैसे कमल नाल के टूट जाने पर उसके तन्तु नही टूटते, वैसे ही यह प्रेम कभी नही टूटता।

विद्यापति निराशावादी कवि नहीं थे, बहुत से लोग उनके स्तुतिपरक गीतों में आत्मग्लानि के शब्दों को देखकर यह आरोत करते हैं कि विद्यापति जीवन की अन्तिम अवस्था में निराशावादी हो गए थे। यह सत्य है कि इन पद्यों में विद्यापति के मन की घोर कातरता दिखाई पड़ती है, जैसे निम्न पद में देखिये—

तातल सैकत वारि विन्दु सम
सुत मित रमनि समाज
तोहे विसारी मन ताहि समरपिनु
अब मझु होव कोन काज
माधव हम परिनाम निरासा
तुहुं जगतारन दान दयामय
अतय तोहर विसवासा
अवधि जनम हम नीद गमायनु
जरा सिसुकत दिन गैला
निधुवन रमनि रभस रंग मातनु
तोहे भजब कोन बेला

इस प्रकार के पदों में दो बाते स्पष्ट होती हैं। पहला कवि का आत्मनिवेदन जो उस काल के भक्त कवियो की परिपाटी थी। अपने को अत्यन्त गिरा हुआ, पतित नीच और कदर्थ बताकर भगवान् की दया के लिए याचना करना एक प्रकार से भक्त कवियो के लिए कवि प्रौढ़ोक्ति है, कवि परिपाटी। सूर, तुलसी, आदि सभी कवियों में इस प्रकार की आत्म-ग्लानि भरी पड़ी है। विनयपत्रिका में तुलसीदास ने मानव-जीवन की शिशु-काल से जरा-काल तक की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ का कदर्थना-भरा चित्रण प्रस्तुत किया है और अन्त में कहा है कि भगवान् इस प्रकार के कृतघ्न नीच पतित जीव का तुम्हीं उद्धार कर सकते हो। सूरदास के विनय के पदों की 'घिघियाहट' पर महाप्रभु बल्लभाचार्य की ताड़ना विदित है ही। इस प्रकार की स्तुतिपरक कवितायें चाहे वह गगा की वन्दना में हों या देवी की,

गणेश की, शंकर की, जानकी की, राधा की या दुर्गा की, सबमें यही कातरता दिखाई पडती है। यह कातरता जीवन की वास्तविक निराशा का परिणाम नहीं है बल्कि देवता की महिमा और भक्त की असहायता की रूढ़ अभिव्यक्ति मात्र है। इसे कवि के जीवन के यथार्थ से सम्बन्धित करने का प्रयत्न अनुचित हैं। क्योकि सौन्दर्य और प्रेम का वास्तविक कवि कभी निराशावादी नहीं हो सकता। वाचा भगवान् के सामने दीनता-भरी स्तुति करता हुआ, दुनियादारी का तकाजा पूरा करता हुआ वह निरन्तर सौन्दर्य और प्रेम की प्रेरणा से अनुचालित होता रहता है।

विद्यापति के सम्मुख सम्प्रदाय या धर्म का कोई विशेष महत्व न था। आलोचकों ने इस प्रश्न को सुलझाने के लिए कि विद्यापति शैव थे या वैष्णव लम्बे-लम्बे तर्क दिये हैं। इन तर्कों के अंबार में यह ढूंढना तो मुश्किल हो ही गया कि विद्यापति क्या थे, जो बातें स्पष्ट सामने थीं वे भी इस कुहेलिका-जाल में छुप गईं (विद्यापति ने प्रेम के बहुत ऊँचे गीत लिखे है, उनके लिए मनुष्य से बडा और कोई पदार्थ नही है, शारीरिक सौन्दर्य से बडी और कोई निधि नहीं है)। आलोचक विद्यापति की इन रचनाओं को इन्ही के आधार पर समझना नहीं चाहते। वे जानना चाहते है कि वे शैव हैं या वैष्णव। क्योंकि इन आलोचकों की यह मान्यता है कि यदि विद्यापति शैव थे तो राधा-कृष्ण के प्रेम-गीत निश्चित ही शृंगारिक हैं क्योंकि कोई शैव भला वैष्णव-देवताओं के बारे मे भक्तिपूर्ण पद क्यों लिखेगा? इस प्रश्न पर आगे विचार किया गया है। इस स्थान पर मैं विद्यापति की धार्मिक मान्यता के विषय पर कुछ भिन्न दृष्टि से विचार करना चाहता हूँ। कवि या लेखक की रचनाओं में धर्म का तत्व दो प्रकार से प्रतिफलित होता है। या तो वे रचनाएँ निश्चय ही धर्म के विषय में हों अर्थात् किसी विशेष प्रकार के धर्म के प्रचार-प्रसार के निमित्त लिखी गई हों, जैसे प्राकृत-अपभ्रंश में लिखे हुए बहुत से जैन काव्य या संस्कृत में लिखे हुए हिन्दू धर्म-ग्रंथ आदि। इन रचनाओं में धर्म केन्द्रीय शक्ति है, बाकी वस्तुयें उसी का अनुगम करती ह। कवितायें धर्म का विषय एक

और भी तरीके से बनती है। धर्म उन कविताओं में मुख्य नही होता। उनमें मनुष्य के बहुत ऊपर उठे हुए मानसिक धरातल का चित्रण होता है। मनुष्य के मन का उच्चतम धरातल जब कवि के काव्य में अभिव्यक्ति पाता है तो उसे आलोचक मधुमती भूमिका की संज्ञा देते है। इस मधुमती भूमिका को प्राप्त कवि की रचनाओं में विश्वजनीन मानव धर्म अभिव्यक्ति पाता है। यह एक स्थिति है जिसमे कवि धर्मो के संकुचित घेरे तोड़कर देश-काल निरपेक्ष साहित्य की सृष्टि करता है। इस साहित्य में किसी भी धर्म की मूल बाते अर्थात् मानवीय जीवन के ,अभ्युदय और निःश्रेयस् की बातें, दिखाई पड़ सकती हैं। विद्यापित की सभी कविताओ मे तो नहीं किन्तु अधिकाश में इसी धर्म की छाया है—यानी मानवधर्म की। राधा और कृष्ण किसी एक जाति या देश के नहीं हैं और न तो प्रेम किसी स्थूल सीमा में आबद्ध हो सकता है। प्रश्न हो सकता है, फिर इन कविताओ पर वैष्णव भक्ति का बिल्ला लगाना कहाँ तक उचित है? विद्यापति ने यह बिल्ला नही लगाया, उन्होंने अपनी कविता को वैष्णव भक्ति का काव्य नहीं कहा। चूंकि उनकी कविता में व्यक्त मानव-हृदय वैष्णव भक्त के हृदय से ज्यादा साम्य रखता है, इसलिए परवर्ती काल में ये कवितायें वैष्णव भक्तों द्वारा स्वीकृत होकर कीर्तन का विषय बन गयीं। रागानुगा भक्ति और सांसारिक प्रेम में प्रकार का अन्तर नही होता, केवल उद्देश्य का अन्तर है। जड़ोन्मुख होकर जो भावना प्रेम की संज्ञा पाती है वही चिदोन्मुख होकर भक्ति कही जाती है। अत्यन्त शृंगारिक कविता भी कभी-कभी शुद्ध चित्त में भगवान् के प्रति अनन्य अनुराग लगाने का कारण बन जाती है। उदाहरण के लिए रूप गोस्वामी की पदावली में एक श्लोक आता है:—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा—
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढ़ा कदाम्बानिलाः
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसी तरुतले चेतः समुत्कण्ठते

अर्थात् जो मेरा कौमर्य हरण करने वाला था वही आज मेरा पति है, आज भी वैसी ही चैत की रात है, वही विकसित मालती की गंध है, कदम्ब फूलों से सुवासित परिणत वय का वही अनिल है, मैं भी वही हूँ किन्तु जाने क्यों रेवा के तट पर कदम्ब-तरुछाया में जो सुरत-व्यापार की लीलायें हुई थीं, उन्हीं में मेरा चित्त उत्कंठित हो रहा है।

यह पद महाप्रभु चैतन्य देव ने सुना तो घंटों व्याकुल रहे। इस श्लोक को पढ़कर महाप्रभु भावान्तर लोक मे प्रविष्ट हो गए। कृष्णराज ने चैतन्य-चरितामृत में लिखा है कि जगन्नाथ क्षेत्र के वैभव और कोलाहल से अतृप्त होकर प्रभु वृन्दावन की कामना कर रहे थे, उसी समय इस श्लोक को उन्होने भावावेश मे दुहराया:—

एइ श्लोक महाप्रभु पडे बार बार
स्वरूप विना केह अर्थ ना बूझे इहार
पूर्वं येन कुरुक्षेत्रे सब गोपीगण
कृष्णेर दर्शन पाया आनन्दित मन
जगन्नाथ देखि प्रभुर से भाव उठिल
सेइ भाविष्ट हइया धुया गायोआइल
अवशेषे राधा कृष्ण कइला निवेदन
सेइ तुमि सेइ आमि सेइ नव संगम
तथापि आमार मन हरे वृन्दावन
वृन्दावन उदय कराह आपन चरण
इहा लोकारण्य हाति घोड़ा रणध्वनि
ताहां पुष्पवन भृंग पिकनाद शुनि

भक्ति और सासारिक प्रेम दोनों ही की परिणति-अवस्था में इस प्रकार की परिस्थितियाँ आती है जिनमें भक्त या प्रेमी अपने हृदय में नाना प्रकार के सुख-दु.ख मिश्रित भावों का अनुभव करते है। इन परि-स्थितियों का सफल चित्रण बहुत थोड़े कवि कर पाते है क्योकि ऐसी अवस्थाओं में मनुष्य का मन नैसर्गिक सहज स्थिति में होता है जिसमें कल्मष नहीं होता, संकोच और अहं की क्षुद्र सीमा नहीं होती। इस प्रकार

के वर्णन मे लौकिक प्रेमगत-परिस्थितियों से भक्ति की कई प्रकार की स्थितियों का साम्य दिखाई पड़ता है। विद्यापति के प्रेम-गीतों में यदि किसी शैव या शाक्त या सूफी साधक को अपनी पद्धति का कुछ साम्य नजर आये तो उसमें विद्यापति को या उन्हें श्रृंगारिक मानने वाले आलोचक को क्या आपत्ति हो सकती है। वैसे वैष्णव रागानुगा भक्ति से इसका ज्यादा साम्य है।

विद्यापति प्रेम और विरह के अत्यन्त गम्भीर वातावरण मे रहते हुए भी काफी विनोदी और आमोदप्रिय जीव थे। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि कुछ कवि प्रेम का गान लिखते हुए, विरह की अवस्था में या असफल प्रेम की स्थिति मे इतने गमगीन हो जाते हैं, ऐसा मुह फुलाये रहते हैं कि उनको पढ़ना भी मुश्किल हो जाता है। वर्तमान युग के बहुत से कवि इस असाध्य रोग के शिकार हैं। प्रेम के अलावा उन्हें और कुछ सूझता ही नही, प्रेम भी कुछ ढंग-ढर्रे का हो तो भी कोई बात हुई, वह प्रेम न होकर केवल प्रलाप होता है। 'वाताधिका: कवय: भवन्ति' को वे चरितार्थ करते हैं। विद्यापति इस तरह के व्यक्ति नहीं थे। रूप देखा तो छक कर देखा, प्रेम किया तो अस्तित्व भूल कर किया, विरह में पड़े तो सौ फी सदी व्यथा को झेलने के लिये तत्पर रहे, किन्तु जब दुनिया को देखकर कुछ उसपर सोचा विचारा तो ऐसी-ऐसी चीजों पर नजर गई कि उन्होंने उनके वर्णन से पाठकों को हँसाकार लोटन कबूतर बना दिया। तरुणी नारी की सगाई किशोर से हुई तो विद्यापति ने न केवल उस युवती के मन का आक्रोश व्यक्त किया बल्कि इस प्रकार की शादी करने वाले कन्या-पिता के पास यह संदेशा भी भिजवाया कि हाल की व्यायी एक गाय भी भेज दो ताकि 'लडिका जमाई' का पालन-पोषण हो सके। और दूसरी ओर नवयुवती की शादी किसी बूढे वर मोशाय से होने लगी तो भी विद्यापति अपना गुस्सा रोक न सके और शादी-व्याह ठीक कराने वाले उस घटक की दाढ़ी पकड़ कर घसीटवाने से बाज न आये। विनोद का रंग कभी कभी काफी चढ़ जाता था तो देवी-देवताओं की शादियों का अच्छा मसाला मिल जाता,

औघड शंकर और दुकूलावेष्ठित कुमारी गौरी की शादी से मनोरंजक और विषय क्या होगा। विद्यापति ने ऐसी परिस्थितियों में पूरी वारीकी के साथ एक-एक रूढ़ि पर करारा व्यंग्य किया। वैसे मिथिला में शादी-व्याह की रंगत कुछ अनोखी रहती भी है—तब भी थी। और विद्यापति ने इसे खूब अच्छी तरह प्रयुक्त भी किया। राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंगों में भी इस कौतुकप्रियता का अभाव नहीं है, वैसे वह विनोद कुछ लोगों के लिए थोड़ा भारी पड़ता है क्योंकि उसके लिए काम-कला-विदग्ध होना पहली शर्त है।

अब तक मैंने विद्यापति की कुछेक वैयक्तिक विशेषताओ का उल्लेख किया जिसे उन्होंने स्वय साधना से अर्जित किया था अथवा वे उनके व्यक्तित्व की सहज विशेषताएँ थीं, परन्तु बहुत सी बाते विद्यापति के व्यक्तित्व मे उस युग-विशेष की देन है जिसमें वे पैदा हुए थे। बहुत सी चीजे उन्हें परम्परा से मिली। इनमे कुछ तो ऐसी है जो उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक हुई, कुछ ऐसी भी है जिन्होने व्यक्तित्व को घटाया।

राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यमीमासा के आठवें प्रकरण में कवि के लिए पठनीय शास्त्रों का विवरण देते हुए कामशास्त्र का भी उल्लेख किया है। कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र और अर्थशास्त्र को एकत्र रखा है। इसे उन्होंने राजसिद्धान्तत्रयी कहा है।

श्रुति. स्मृतिः इतिहासः पुराणं, प्रमाणविद्या समय विद्या राजसिद्धान्तत्रयी . .

(काव्य मीमांसा, अष्टम अध्याय, पृष्ठ ८५)

ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी के आस पास वात्स्यायन ने कामसूत्र का निर्माण किया। उसके बाद और भी कई आचार्यों ने इस शास्त्र के पल्लवन और विकास मे अपना अमूल्य योगदान किया। रतिरहस्य, अनंगरंग, नागर-सर्वस्व आदि ग्रंथों मे इस शास्त्र का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया गया। कामशास्त्र में दो वस्तुओं पर बहुत ध्यान दिया गया। कामिनी लक्षण और कन्या-विस्रम्भण। कामिनी लक्षण का निर्माण केवल कामशास्त्र का ही विषय नही था। इसके निर्माण मे सामुद्रिक शास्त्र के आचार्यों का भी

बहुत बडा हाथ था। हिन्दू, जैन और बौद्ध तीनों ही मतों के मानने वाले आचार्यों ने अपने अपने ढंग से सामुद्रिक शास्त्र लिखे। हिन्दुओं के सामुद्रिक शास्त्र प्रसिद्ध है ही। जैन लोगों ने भी सामुद्रिक पर कई ग्रंथ लिखे। जैनियों के पाँच ग्रथ अत्यन्त प्रसिद्ध है। पाटण के राजमंत्री श्री जगदेव रचित सामुद्रिक तिलक, पार्श्वचन्द का हस्तकाण्ड, अज्ञात संज्ञक किसी लेखक का अर्हंत चूणामणि सार (१०वी शताब्दी) उपाध्याय मेघाविजय का हस्तसंजीवन तथा किसी अज्ञात विद्वान का प्राचीन सामुद्रिक शास्त्र आदि ग्रंथ जैन आचार्यो की शास्त्र-साधना के परिणाम है। ये पाँचों पुस्तकें दसवीं से बारहवी शताब्दी के बीच लिखी गईं। सामुद्रिक शास्त्रों में नर-नारी के लक्षणों पर काफी विस्तार से विचार किया गया। इन लक्षणों ने कामशास्त्र को भी प्रभावित किया। नारी के नखशिख सौन्दर्य के सभी लक्षण इन्हीं सामुद्रिक शास्त्रों के आधार पर तैयार किए गए। पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी तथा देवसत्त्वा, गन्धर्वसत्त्वा, यक्षसत्त्वा, मनुष्यसत्त्वा, आदि नारियों के भेद और लक्षण सामुद्रिक शास्त्रों और कामशास्त्रों में प्रायः समान हैं। इतना ही नही नारी के वर्ण, गंध, स्वर, गति, लावण्य, पाँव, उँगलियाँ नख, चरण, जानु, उरु, कटि, नितम्ब, वस्ति, नाभि, उदर, त्रिवली, वक्षस्थल, उरोज, हँसली, कन्धे, हाथ, नख, ग्रीवा, चिबुक, कपोल, मुख, अधर, दाँत, जिह्वा, हास्य, नाक, नेत्र, भौंह, कान, ललाट, कपाल, केश, आदि अंगों के बारीक से बारीक लक्षण नारियों के विभिन्न प्रकारों के अनुसार नाना प्रकार के बताये गये। कामशास्त्र में मध्यदेश, मालवा, सिंध, पंजाब, गुजरात, केरल, मद्रास, बंगाल, उत्कल, कोशल, आदि की नारियों की प्रवृत्ति और उनके कामाचरण के षियय में भी विचार किया गया है। कन्या-विस्रंभण प्रकरण के अन्तर्गत नारी के सौन्दर्य की प्रशंसा, प्रणयोपचार आदि की विधियाँ बताई गयी है। बाला, नवोढ़ा, मुग्धा, प्रौढ़ा, आदि के प्रणयोपचार के अन्तर स्पष्ट किये गए हैं। नागरजनों के वर्णन दैनंदिन कामक्रम, विलास और प्रसाधन के नाना उपकरणों का विस्तृत विवरण दिया गया है। इन शास्त्रों को देखने से मालूम होता है कि नायिका भेद के बीजाकुंर यहाँ वर्त्तमान हैं। यही नहीं इनके अंदर प्रणय के नाना रूपों के बारे में

रूढ़ियाँ भी स्थापित हो चुकी थी इन शास्त्रों का प्रभाव बहुत गहराई से पड़ रहा था। कामशास्त्र का मूल उद्देश्य कुछ और ही था। वात्स्यायन ने लिखा था कि काम अर्थ और धर्म दोनों का साधन है

फलभूतश्च धर्मोर्थयो: (कामसूत्रम्)

वातास्यायन ने विवाह को आवश्यक बताया था और शास्त्र को वर्णाश्रम की मर्यादा और सीमा में घेर कर रखा था—

कामश्चतुर्षु वर्णेषु सवर्णत: शास्त्रतश्चानन्यपूर्वायां
प्रयुज्यमान: पुत्रीयो यशस्वी लौकिकश्च भवति
(कामसूत्रम्)

बाद में इस शास्त्र की मर्यादा नष्ट हो गई और इसका मूल प्रयोजन इन्द्रियसुख और 'परपरिगृहीता' के प्रति आसक्ति और व्यभिचार हो गया। इन शास्त्रो मे वर्णित नारी सौन्दर्य और अंगप्रत्यंगों के लक्षणादि इतने लोकप्रिय हुए कि कवियों ने ज्यों का त्यों इन्हें काव्यविषयक उपकरण के रूप मे गृहीत कर लिया। सौन्दर्य चित्रण में तथा नखशिख-वर्णन मे कामशास्त्र के लक्षणों को ज्यों का त्यो अपना लिया गया। इतना ही नही कामशास्त्र के रूढ भेदोपभेदों को नारी वर्णन में पूर्ण महत्त्व दिया गया। बाला, नवोढा, मुग्धा, प्रौढ़ा आदि के वर्णन में कामशास्त्र के लक्षण काव्य के नियम बन गए और इन रूढ़ विशिष्टताओ को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण स्वरूप श्लोक आदि रचे जाने लगे। कामशास्त्र का प्रभाव चित्रकला तथा मूर्तिकला पर भी कम न पड़ा। पवित्र देव-मंदिर विचित्र मुद्राओं और आसनो के चित्रों से भर गए। नग्नमूर्तियों का निर्माण श्रेष्ठ कला माना जाने लगा।

कामशास्त्र का प्रभाव आमुस्मिकतापरक या धर्मनिरपेक्ष साहित्य लिखनेवालों पर ही नही पड़ा। इसका प्रभाव इतना व्यापक था कि धार्मिक कवि, स्तुति या स्तोत्र लेखक भी इससे बच न सके। दुर्गा, सरस्वती, राधा, गौरी, लक्ष्मी आदि देवियों की स्तुति मे उनके सौन्दर्य का चित्रण इन्ही लक्षणों पर आधारित किया गया। नवोढा और तरुणी के

सौन्दर्य-चित्रण में परिगृहीत उपमान देवियों के सौन्दर्य में भी प्रयुक्त होने लगे। बाद में मधुरा भक्ति के माननेवाले वैष्णव कवियों ने भी इसे और भी अधिक महत्त्व दिया। गीतगोविन्द में सर्वप्रथम काम-कला और हरि-स्मरण को एकत्र कर दिया गया। जयदेव ने बडे आत्मविश्वास के साथ कहा—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलास-कलासु कुतूहलम्
मधुर कोमलकान्त पदावली श्रृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्
(गीतगोविन्दम् श्लोक ३)

जयदेव ने हरिस्मरण के साथ-साथ कामकला के कुतूहलों की शान्ति को भी अपनी कविता का उद्देश्य मान लिया। अर्थात् उन्होंने हरि-कीर्तन और कामशास्त्रीय शिक्षा को एक साथ ही स्वीकार किया। जयदेव ने बिना झिझक ये दोनो बातें एक साँस में कह दी। उन्हे कामशास्त्र-शिक्षा के नाम पर रंचमात्र भी संकोच न हुआ। जयदेव का गीतगोविन्द रागानुगा भक्ति सम्प्रदाय के भक्तों के लिए भागवत की तरह पूज्य है। इस ग्रथ का महत्त्व इसी बात से समझा जा सकता है कि परवर्ती काल मे कोई भी वैष्णव कीर्तन बिना इसके श्लोक-पाठ के पूरा ही नही माना जाता था। जयदेव ने ५० प्रतिशत कामकला के साथ ५० प्रतिशत हरिस्मरण का संकल्प किया था, पर हुआ क्या? हरिस्मरण का स्वर क्षीण से क्षीणतर होता गया। हरि के चरणों मे निवास करनेवाले जयदेव को हरिस्मरण का जैसा भी आनन्द मिला हो, पाठकों के लिए तो यह युवती की कोमल-कला की तरह ही आकृष्ट कर सका—

हरिचरण शरण जयदेव कवि भारती—
वसतु छवि युवतिरिव कोमलकलावती
(७।१०)

जयदेव के लिए उस जनता का पूरा तिरस्कार कर देना असंभव था जो गाथा सप्तसती जैसी प्रेम-विह्वल रचनाओं में ही आनन्द और मनोरंजन प्राप्त करती थी। जयदेव की विशेषता अवश्य है कि उन्होंने उस प्रकार की प्रवृत्ति में, क्षीणतर ही सही, भक्ति का स्रोत्र भी अनुस्यूत कर दिया।

विद्यापति पर इस धारा का घोर प्रभाव पड़ा। उन्होने जयदेव की तरह माधव और राधा के चरणों की वन्दना के साथ ही कामशास्त्र की शिक्षा को भी अपना उद्देश्य मान लिया। तत्कालीन कवि वस्तुतः कामशास्त्री की भूमिका अदा करना भी कवि का ही कर्त्तव्य समझने लगा था। राधा के रूप-चित्रण में विद्यापति ने सामुद्रिक और कामशास्त्र की रूढ उत्प्रेक्षाओ और उपमाओ की राशि एकत्र कर दी। प्रेम के चित्रण के बाद वे यह लिखना नही भूलते थे कि यह रस कोई कोई ही जानता है। अरे मूर्ख, राजा शिवसिह इस रस को जानते है, उनसे कुछ डर नही अथवा लखिमा इस रस को जानती है। इतना ही नहीं कुछ पदों मे उन्होंने कामकला शिक्षक का बाना भी धारण कर लिया है और स्पष्ट शब्दो में लिखा है:—

विद्यापति कह इह रस ठाठ
भए गुरु काम सिखाओब पाठ

अथवा.—

सुनु सुनु ए सखि वचन विसेस
आजु हम देब तोहि उपदेस

और जब विद्यापति अपना 'उपदेस' देने लगे तो वात्स्यायन और उनकी सारी शिष्य-परम्परा दाँत तले ऊँगली दबा कर खड़ी हो जाये तो कोई आश्चर्य नही। हम इसके लिए विद्यापति को दोषी नही कहते। प्रेम-काव्यो की इस परम्परा ने जयदेव के हरिस्मरण को जब कामकला के सामने घुटने टेकने को मजबूर किया तो विद्यापति जैसे दरबारी कवि जिसने हरिस्मरण का कभी संकल्प ही नही किया, इस धारा में बह जायें तो आश्चर्य क्या। किन्तु यह उनके व्यक्तित्व की एक निर्बलता जरूर है कि वे उस विकासशील संक्रमण काल में अपने को उस क्षयिष्णु प्रभाव से अलग न कर सके। वे कबीर नहीं हो सके तो कोई बात नहीं किन्तु वे मीरां हो सकते थे।

यद्यपि विद्यापति ने सामाजिक चेतना को पूर्णतः ग्रहण नहीं किया, 'लोकचेतना' शीर्षक प्रकरण में मैंने विस्तार से विचार किया है। यहाँ प्रसंगवश

इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने जन-जीवन के साथ अपने को सम्बद्ध करने का जो कुछ भी प्रयत्न किया और उसमें जितना भी वे सफल हो सके, वह कम नही है। चौदहवीं शताब्दी के कवि के लिए भाषा काव्य लिखना ही एक असंभव व्यापार था। तीन सौ वर्ष बाद भी केशवदास ने 'भाखा' में काव्य लिखते वक्त जिस ग्लानि का अनुभव किया तथा तुलसीदास जैसे जनमंगल की भावना से ओतप्रोत कवि ने 'भाखभनिति' के लिए जितनी शालीन सफाई पेश की—वह सब कुछ संभव न हुआ होता यदि विद्यापति जैसे दरवारी कवि ने कविता को देव-वाणी की दमघोंट चाहरदीवारी से बाहर न निकाला होता। यह सही है कि उन्होंने कबीर की तरह संस्कृत को कूपजल कहकर तिरस्कृत नही किया; किन्तु इतना तो वे मानते ही थे कि सस्कृत अब केवल बुधजन तक ही सीमित हो गई है।

सक्कय बानी बुहजन भावइ
पाअऊँ रस को मम्म न पावइ
देसिल बयना रस जन मिट्ठा
त तैसन जम्पओं अवहट्ठा

उन्होंने अपने राजकवि होने की मजबूरी को संस्कृत प्रशस्ति काव्य लिखकर निभाया, तत्कालीन परम्परा के अनुसार राजा के युद्ध और प्रणय का विवरण पिंगल या अवहट्ठ में उपस्थित किया किन्तु हृदय का तकाजा, जनता के प्रति उत्तरदायित्व 'देसिलवयना' के माध्यम से ही व्यक्त हुआ। विद्यापति के गीतों का पाठक इनकी जीवंत प्रवाहमयी भाषा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। लोकगीतों की सुमधुर और सहज पद्धति पर लिखे गए ये गीत तत्कालीन जनमानस के अकृत्रिम दर्पण हैं। इस प्रकार की चेतना को सामाजिक यथार्थ के प्रति श्रद्धा की भावना के बिना कौन कवि ग्रहण कर सका है? इतना ही नही विद्यापति ने बाल-विवाह, धनकटनी नारी की दीनता, मुसलमानों के आक्रमण से उत्पन्न सामाजिक अव्यवस्था, आदि विषयों पर भी बड़ी ईमानदारी के साथ विचार किया है। १९वी शताब्दी

के आरंभ में बाल-विवाह आदि समस्याओं पर विचार करनेवाले लोगों को हम 'रिनेंसा' के अग्रदूत कहते है; किन्तु कल्पना कीजिए चौदहवी शताब्दी के उस युग की जब विदेशी आक्रमण से संत्रस्त हिन्दू जाति अपने बचाव के लिए नाना प्रकार की किलेबंदी कर रही थी, बाल-विवाह भी उसी युग की देन है, इसमें शक नही। विद्यापति ने उस कुरीति का जो तत्कालीन विकट परिस्थितियों का परिणाम थी, क्षम्य नहीं माना और उसपर अपने मार्मिक किन्तु क्षोभहीन ढंग से प्रहार किया।

लोकचेतना के प्रति उनका आदर एक और रूप में व्यक्त हुआ। हिन्दी के अद्यतन काव्य की एक प्रवृत्ति है लोकतत्त्व के परिग्रहण की। हम उन कवियो या लेखकों को साधुवाद देते है जो जनता के लोक गीतों या लोककथाओं को अपने काव्य में स्थान देते हैं। लोकगीतों या लोककथाओं के परिग्रहण में भी कभी-कभी गड़बड़ी पैदा होने की आशंका रहती है। लोकगीत या लोकतत्त्वों का अध्येता जब इन गीतों में जनता के प्रेम या दर्द की सहज विवृति के साथ-साथ अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों के प्रति व्यक्त भयमिश्रित श्रद्धा को भी चुपचाप ग्रहण कर लेते हैं तब लोकगीतो के प्रयोग से स्वस्थ प्रवृत्तियों को बल के स्थान पर बाधा ही मिलती है। लोकतत्त्वों का प्रयोग शैली और वस्तु दोनों ही दृष्टियो से काव्य को उन्नयनशील, कृत्रिमताहीन तथा जन-मानस के साथ सम्बद्ध बनाने में समक्ष होता है। उपमायें, उत्प्रेक्षा तथा अन्य अलंकारों के प्रयोग में लोक-तत्त्व से प्रभावित उपमान ग्रहण किये जा सकते हैं। यही नहीं कभी-कभी लोकतत्त्वों का परिग्रहण साहित्य की रूढ़ प्रवृत्तियों से प्रभावित विचार-सरणि को भी बदलने में सहायक होता है। विद्यापति ने लोक-तत्त्वों के ग्रहण में काफी पटुता और कुशलता का परिचय दिया है। उन्होंने गीतों के छन्द, धुन, स्वर तथा शब्द-विन्यास आदि लोकजीवन से लिये, साथ ही विरह और संयोग के वर्णनों में भी लोक-जीवन की मान्यताओं का प्रयोग किया। उदाहरण के लिए बालक जन्म के अवसर पर होने वाले टोने-टोटके, तथा अन्य लौकिक संस्कारों का वर्णन विद्यापति ने वसन्त को बालक मानकर उसके जन्म के अवसर पर प्रस्तुत किया है—

मधु लए मधुकर बालक दएहलु
कोमल पंखरी लाई
पओोनार तोरि सूत बाँधल कटि
केसरि कएल बघनाई

पूजा, व्रत आदि के अवसरों पर गाये जाने वाले स्तुति-गानों में भी अनेक लोक-गीतों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पडता है। संयोग और वियोग के गीतों में तो विद्यापति ने अभिजात संस्कारों को नीरस समझकर एकदम हटा दिया है। उनके स्थान पर उन्होने सामान्य प्रेमी-प्रेमिका के लोक-जीवन से संपृक्त प्रेम-व्यापार का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। लोकगीत का एक धुन देखिए:—

के पतिया लय जायत रे
मोरा पियतम पास
हिय नहिं सहए असह दुख रे
भेल साओन मास
एकसरि भवन पिया विनु रे
मोरा रहलो न जाय
सखि अनकर दुख दारुन रे
जग के पतियाय
मोर मन हरि हरि लए गेल रे
अपनो मन गेल
गोकुल तज मधुपुर वस रे
कत अपजस लेल
विद्यापति कवि गाओल रे
धनि धरु हिय आस
आओत तोर मनभावन रे
एहि कातिक मास

ठीक इसी भाव के प्रायः इन्हीं शब्दों के कई गीत भोजपुरी, अवधी तथा अन्य लोक भाषाओं में आज भी चलते हैं। कही-कही तो विद्यापति ने

लोकगीत को ज्यों का त्यों रख दिया है। या हो सकता है कि उन्हीं का लिखा हुआ गीत शुद्ध लोकगीत की तरह प्रिय होने के कारण लोकगीत ही प्रतीत होता है। इन गीतों में दर्द की इतनी तीव्र व्यंजना इसीलिए संभव हो सकी है कि कवि ने विरहिणी के मुख से निकलनेवाले शब्दों को पहचाना है। विरहिणी नायिका छाती फटने की व्यंजना कई शब्दों में भिन्न तरह से कर सकती है; पर

मधुपुर मोहन गेल रे
मोरा विहरत छाती
गोपी सकल विसरलनि रे
जत छल अहिवाती

विहरत की तुलना का दूसरा शब्द मिलना कठिन है। यह ऐसा शब्द है जो दर्द की अन्तःसलिला में जाने कितने समय तक बहते-टकराते घिस-घिसकर चिकने पत्थर की तरह पारदर्शी हो गया है, इस शब्द में अभिधार्थ से कहीं ज्यादा भाव सन्निहित हो गया है।

लोकगीत कभी भी निराशावादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं देते। विरहिणी नारी के दुख को कवि समझता है इसीलिए लोकगीतों की आशावादी प्रवृति के अनुकूल ही वह प्रत्येक पद में कहता है कि धनि, तू अपने हृदय में धैर्य धारण कर, तेरे प्रिय शीघ्र आयेंगे, या इस कातिक मास में ही आ जायेंगे, आदि आदि।

विद्यापति पूर्णतः गीतात्मक (Lyrical) व्यक्तित्व के पुरुष थे। संगीतमयता और अपने व्यक्तित्व को गीतों में लय करने की तन्मयता विद्यापति के नैसर्गिक गुण हैं। उन्होंने संस्कृत और अवहट्ठ की कतिपय रचनाओं मे प्रबंधकार कवि के कौशल का परिचय दिया है किन्तु जैसा मैंने पहले ही कहा, यह दरबारी कवि के उत्तरदायित्व का निर्वाह मात्र है। (विद्यापति का व्यक्तित्व केवल गीतों में ही व्यक्त हो सकता था। एक ऐसा व्यक्तित्व जो सौन्दर्य की भाव-लहरियों से स्पन्दित था, प्रेम-बाँसुरी की जड़ीभूतकारिणी माधुरी से प्लावित था, तथा जो विरह के

चम्पा की तीखी गंध से व्याकुलित था केवल अपने को लघु-लघु गीतों में ही व्यक्त कर सकता था। दण्डनीति के पंडित, भूपरिक्रमा के लेखक के व्यक्तित्व मे विचार-कर्कशता और तर्क की पौरुषता अवश्य थी किन्तु यह उस व्यक्तित्व का हृदय नहीं है, कलेवर है जिसकी रूक्षता और उत्तप्तता के बीच उनके हृदय की सरस भाव-धारा सुरक्षित नहीं। विद्यापति की राधा वस्तुतः सौन्दर्य का स्तवक है। इकहरे भाव-चित्रों की चित्रपटी है, वह एक ऊँची रुचि के कलाकार की तूलिका से निर्मित चित्रों का अलबम है, उसमें अजन्ता के भित्तिचित्रों का गांभीर्य और विशालता नहीं उसमे खजुराहो और भुवनेश्वर के मंदिरों में निर्मित मिथुन नरनारी के खण्डित व्यक्तित्व के छायाङ्कन का प्रभाव है। विद्यापति के गीतों में एक क्षण को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न है। एक ऐसा क्षण जो अपनी लघु स्थिति में जीवन की समग्रता का पूरा आभास तो नहीं दे सकता किन्तु जो जीवन के किसी एक हिस्से को सदा के लिए उद्भासित करने के लिए समर्थ होता है। प्रबंधकार कवि जीवन का पूरा चित्रण इसी क्षण की अनुभूति को प्रस्तुत करने के लिए किया करता है जबकि विद्यापति उस क्षण में ही जीवन देख लेने के अभ्यासी है। उनके गीत शबनम की बूँदों की तरह दिव्य और पारदर्शी हैं किन्तु उन्हीं की तरह उनका अस्तित्व भी केवल रुचि-सम्पन्न हृदयों में ही हो सकता है।

विद्यापति का प्रभाव परवर्ती काल पर कई रूपों में पड़ा। अपनी मानवी अनुभूति और देश-काल-निरपेक्ष कलाकारिता के बल पर उन्होंने ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया जिसने भक्तों को वैष्णवी भक्ति का सुम-धुर गान दिया, रसिकों को कलापूर्ण प्रणय की भावबभंगिमा, असंख्य विरही-जनों के कान्ताविश्लेष दुख से पीड़ित मन को सँभालते की ताकत, युवकों को नारी का मादक मांसल सौंदर्य तथा वृद्धों को अपने जीवन के अन्तिम काल में आत्म-ग्लानि पूर्ण मनसे ईश-वन्दना के लिए स्तुतियाँ प्रदान कीं। डा० सुभद्र झा ने लिखा है कि विद्यापति का प्रभाव तुलसीदास से भी व्यापक है क्योंकि उनके पाठक केवल हिन्दी क्षेत्र के ही लोग नही बल्कि

असम, बंगाल और उड़ीसा के भी है। तुलसीदास का प्रभाव कुछ भिन्न तरह का है। यह प्रभाव धर्म के नियमों की तरह बुद्धि-गम्य है, संसार के दुःखों से आकुल जन के लिए तुलसीदास शास्त्रज्ञ किन्तु सहृदय धर्मगुरु हैं। विद्यापति भिन्न हैं, उनकी कविता हृदय को चेतावनी नहीं, प्यार देती है। विद्यापति के गीतों की शैली निराली है। विद्यापति की कविता ने असम, बंगाल के व्रजबुलि कवियों को न केवल प्रभावित किया बल्कि वह इस प्रकार के काव्य लिखने का आदर्श और प्रेरणा भी बनी रही। इसने पिछले खेवे के व्रजभाषा कवियों को प्रभावित नहीं किया ऐसा कुछेक विद्वान् मानते हैं। किन्तु व्रजभाषा कविता के विकास में बंगाली गोस्वामियों का प्रभाव कम न था। चैतन्य के वृन्दावन आगमन के समय न केवल रागानुगा भक्ति की अनन्तव्यापिनी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, साथ ही गीत-गोविन्द के श्लोक और विद्यापति के पद जो महाप्रभु को बहुत प्रिय थे, वृन्दावन आये। उसके पहले भी विद्यापति से प्रभावित कितने संत वृन्दावन आ चुके थे। रूप गोस्वामी, शंकरदेव आदि संत विद्यापति से अपरिचित न थे। विद्यापति के सम्बन्ध में ग्रियर्सन की यह श्रद्धाञ्जलि उचित ही है—"हिन्दू धर्म का सूर्य अस्त हो सकता है, वह समय भी आ सकता है जब कृष्ण से विश्वास और श्रद्धा का अभाव हो, कृष्ण प्रेम की स्तुतियों के प्रति जो हमारे लिए इस भवसागर के रोग की दवा है, विश्वास जाता रहे तो भी विद्यापति के गीतों के प्रति जिनमें राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन है, लोगो की आस्था और प्रेम कभी कम न होगा।

काल-निर्णय

भारत के अन्य बहुत से श्रेष्ठ कवियों की भाँति विद्यापति का तिथि-काल भी अद्यावधि अनुमान का विषय बना हुआ है। यद्यपि विद्यापति का सम्बन्ध एक विशिष्ट राजघराने से था, और इस कारण वे मात्र कवि ही नहीं बल्कि एक ऐतिहासिक व्यक्ति कहे जा सकते हैं, किन्तु अभाग्यवश इतने प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण व्यक्तित्व के समय के विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका है, जिस पर मतैक्य हो सके।

विद्यापति की जीवन-तिथि का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः जीवन-तिथि के निर्धारण का कार्य मात्र अनुमान का विषय रह जाता है। विद्यापति के पिता गणपति ठक्कुर राजा गणेश्वर के सभासद थे और ऐसा माना जाता है कि विद्यापति अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर के दरबार में कई बार गए थे। उस समय उनकी अवस्था आठ-दस साल से कम तो क्या रही होगी। कीर्तिलता से मालूम होता है कि राजा गणेश्वर लक्ष्मण-सम्वत् २५२ में असलान द्वारा मारे गए। इस आधार पर चाहें तो कह सकते हैं कि विद्यापति यदि उस समय दस बारह साल के थे तो उनका जन्म लक्ष्मण-सम्वत् २४२ के आसपास हुआ होगा। सबसे पहले श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त ने विद्यापति-पदावली (बँगला संस्करण) की भूमिका में लिखा कि २४३ सम्वत् को राजा शिवसिंह का जन्म-काल मान लेने पर हम मान सकते हैं कि कवि विद्यापति का जन्म लक्ष्मण संवत् २४१ के आसपास हुआ होगा। क्योंकि ऐसा प्रसिद्ध है कि शिवसिंह पचास वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे और विद्यापति अवस्था में इनसे दो साल बड़े थे। इसी के आधार पर विद्यापति का जन्मसंवत् २४१ (लक्ष्मण) में अर्थात् ईस्वी सन् १३६० में हुआ, ऐसा मान लिया गया।

जन्म-तिथि-निर्धारण के विषय मे किसी बाह्य साक्ष्य के अभाव की अवस्था में हमें अन्त.साक्ष्य पर विचार करना चाहिए। कीर्तिलता पुस्तक से यह मालूम नही होता है कि यह विद्यापति की प्रारम्भिक रचनाओं में एक है। विद्यापति ने इस ग्रन्थ में अपनी कविता को बालचन्द्र की तरह कहा है—

बालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ (२।६-१२)

इस पद से ऐसा ध्वनित है कि इसके पहले विद्यापति की कोई महत्त्वपूर्ण रचना प्रकाश में नहीं आई थी। पर कवि की इन पंक्तियों से अपनी कविता के विषय में उनका विश्वास झलकता है और यह उक्ति यों ही कही गई नहीं मालूम होती। कवि कहता है कि यदि मेरी कविता रसपूर्ण होगी तो जो भी सुनेगा, प्रशंसा करेगा। जो सज्जन हैं, काव्य रस के मर्मज्ञ हैं, वे इसे पसन्द करेंगे; किन्तु जो स्वभावेन असूया-वृत्ति के है वे निन्दा करेंगे ही। इस निन्दावाली पंक्ति से कुछ लोग सोच सकते हैं कि किसी प्रारंभिक रचना की निन्दा हुई होगी। पर सज्जन प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा कोई नई बात नहीं, यह मात्र कवि परिपाटी है। यहाँ बालचन्द्र निष्कलंकता और पूजार्हता घोषित करने के लिए प्रयुक्त लगता है।

अब यदि हमें कीर्तिलता के निर्माण का समय मालूम हो जाय तो हम सहज ही अनुमान कर सकते है कि विद्यापति उस समय प्रसिद्ध कवि हो चुके थे। कीर्तिलता के कथा-पुरुषों में कीर्तिसिंह मुख्य हैं। कीर्तिलता पुस्तक महाराज कीर्त्तिसिंह की कीर्ति को प्रोज्जवल करने के लिए लिखी गई थी। कीर्त्तिलता से यह भी मालूम होता है कि कीर्त्तिसिंह ने जौनपुर के शासक इब्राहिम शाह की सहायता से तिरहुत का राज्य प्राप्त किया, जिसे लक्ष्मण सम्वत् २५२ में मलिक असलान ने राजा गणेश्वर का वध करके हस्तगत कर लिया था। इस कथा में दो घटनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व

की आती है। पहली तो असलान द्वारा राजा गणेश्वर का वध और दूसरी इब्राहिम शाह की मदद से तिरहुत का उद्धार।

लक्ष्मण सेन सम्वत् कब प्रारम्भ हुआ, इस पर भी विवाद है। इस समस्या पर कई प्रसिद्ध इतिहास-विशेषज्ञों ने विचार किया है, परन्तु अब तक कोई निश्चित तिथि पर सबका मतैक्य नही है। श्री कीलहार्न ने इस विषय पर बड़े परिश्रम के साथ विचार किया।[1] उन्होने मिथिला की छः पुरानी पाण्डुलिपियों के आधार पर यह विचार किया कि लक्ष्मण-सम्वत् को १०४१ शाके या १११९ ईस्वी सन् में प्रथम प्रचलित मानते से पाडुलिपियों में अंकित तिथियाँ प्राय. ठीक बैठ जाती है। छः पाडु-लिपियों मे एक को छोड़कर बाकी की तिथियों में गड़बड़ी नहीं मालूम होती। पश्चात् श्री जायसवाल ने डेढ़ दर्जन के लगभग प्राचीन मैथिल पांडुलिपियों की जॉच करके यह मत दिया कि लक्ष्मण सेन सम्वत् में १११९ जोड़ने पर हम तत्कालीन ईस्वी साल का पता लगा सकते है। उन्होंने यह भी कहा कि ऊपर की संख्या केवल कर्णाट या ओइनीवार वंश तक के ऐतिहासिक कागज-पत्रों की तिथियों के लिए ही सही है बाद की ऐतिहासिक तिथियों की जानकारी के लिए उक्त संख्या में क्रमशः दो वर्ष कम कर देना होगा, यानी जायसवाल के मत से १५३० ईस्वी के पहले की तिथियों के लिए लक्ष्मण सम्वत् में १११९ जोड़ने से तत्कालीन ईस्वी सन् का पता लगेगा किन्तु बाद की तिथियों के लिए ११०९ जोड़ना आवश्यक होगा।[2] बहुत से विद्वान् लक्ष्मण-सम्वत् का प्रारम्भ ११०६ में ही मानते हैं। इस तरह ११०६ से १११९ तक के काल में अनिश्चित ढंग से कभी लक्ष्मण-सम्वत् का आरम्भ बताया जाता है। ऐसी स्थिति में २५२ लक्ष्मण यानी राजा गणेश्वर की मृत्यु का वर्ष १३५८ ईस्वी से १३७१ के बीच में पड़ेगा।

दूसरी ऐतिहासिक घटना इब्राहिम शाह की मदद से तिरहुत का उद्धार है। जौनपुर में इब्राहिम शाह नाम का मुसलमान शासक अवश्य

१. इंडियन ऐंटिक्वैरी भाग १२, सन् १८२० ई०, पृ० ७

२. जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग २०, पृ० २० एफ० एफ०।

था और उसका राज्य-काल भी निश्चित है। १४०२ ईस्वी में इब्राहिम शाह गद्दी पर बैठा। तभी कीर्तिसिंह के आवेदन पर वह तिरहुत में असलान को दण्ड देने गया होगा। अतः इब्राहिम शाह के तिरहुत जाने का समय १४०२ ईस्वी के पहले नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है।

ज्यादा से ज्यादा १३७१ में गणेश्वर राय की मृत्यु और उसके ३१ वर्ष के बाद इब्राहिम शाह का मिथिला आगमन बहुत से विद्वानों को खटकता है। इसलिए इस व्यवधान की समाप्त करने के लिए कई तरह के अनुमान लगाए जाते हैं।

सबसे पहले डा० जायसवाल को यह व्यवधान खटका और उन्होंने इसको दूर करने के लिए एक नया उपाय निकाला। कीर्तिलता में २५२ लक्ष्मण सम्वत् की सूचना देनेवाला पद्य इस प्रकार है—

लक्खन सेन नरेस लिहिअ जबे पक्ख पंच वे (की० २।४)

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने इसका अर्थ किया था कि जब लक्ष्मण सेन का २५२ लिखित हुआ। जायसवाल ने इसे ठीक नहीं माना और उन्होंने 'ज बे' का अर्थ ५२ किया और इसे २५२ में जोड़कर इस वर्ष की संख्या ३०४ लक्ष्मण सेन ठीक किया अर्थात् १४२३ ईस्वी।[1]

'जबे' स्पष्ट रूप से समय सूचक क्रियाविशेषण अव्यय है, इसे खींचतान करके वर्ष-गणना का माध्यम बनाना उचित नहीं जान पड़ता। वस्तुतः जो समय-व्यवधान जायसवाल को खटक रहा था, वह सत्य था और ३१ वर्ष के बाद ही इब्राहिम शाह तिरहुत आया, इसमें कोई गड़बड़ी नहीं मालूम होती। उलटे जायसवाल जी की नई गणना से कई ऐतिहासिक भ्रान्तियाँ खड़ी हो जाती हैं। उन्हीं के बताए काल को सही मानें तो राजा कीर्त्तिसिंह १४२३ या २४ ईस्वी में गद्दी पर बैठे होंगे। ऐतिहासिकता यह है कि राजा शिवसिंह को २९१ लक्ष्मण-सम्वत् में राजाधिराज कहा गया है। यदि गणेश्वर ३०४ लक्ष्मण-सम्वत् में मरे, जबकि वे स्वयं

१. जायसवाल, दि जर्नल आव बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १३, पृ० २९९।

राजाधिराज थे, तो शिवसिंह का उनके पहले राजाधिराज हो जाना असत्य हो जाता है।

इधर समय के इस व्यवधान पर डा० सुभद्र झा ने भी गंभीरता से विचार किया है।[1] उन्होंने डा० जायसवाल के मत को ठीक नही माना है और लक्ष्मण सम्वत् २५२ में राजा गणेश्वर की मृत्यु स्वीकार किया है। परन्तु उन्होने कहा है कि मृत्यु के बाद ही कीर्त्तिसिह अपने भाई के साथ अपने पिता के शत्रु से बदला लेने के लिए इब्राहिम शाह के पास गए। चूँकि जौनपुर में इब्राहिम शाह नामक कोई शासक १४०२ के पहले नही हुआ इसलिए डा० सुभद्र झा ने माना है कि कीर्त्तिसिह जौनपुर नही जोनापुर गए जो लिपिकार की गलती से जोइनिपुर के स्थान पर लिखा गया है। उन्होंने जार्ज ग्रियर्सन की रचना (टेस्ट आव् मैन, टेल्स नं० २-४१) में प्रयुक्त 'योगिनीपुर को' जिसे ग्रियर्सन ने पुरानी दिल्ली कहा है, जोनापुर का सही रूप बताया है। डा० सुभद्र झा को योगिनीपुर के पक्ष मे कीर्त्तिलता में ही प्रमाण भी मिल गया।

पेष्खिअउ पट्टन चारु मेखल जञ्ञोन नीर पखारिआ (की० २.७६)

श्री झा का कहना है कि इस पंक्ति में 'जञ्ञोन' शब्द का अर्थ यमुना है। विद्यापति के पदों में 'जञ्ञुन' और जञ्ञुनि' दो शब्द मिलते हैं, जिनका अर्थ यमुना है। ऐसी स्थिति मे उक्त पंक्ति का अर्थ होगा— 'नगर, जो यमुना के जल से प्रक्षालित था, सुन्दर मेखला की तरह मालूम होता था।' तय है कि ऐसी अवस्था मे यह शहर जौनपुर नही हो सकता। यह अवश्य दिल्ली था किन्तु दिल्ली में डा० झा को उस समय के किसी इब्राहिम शाह का पता नहीं चला, इसलिए उनका कहना है कि इब्राहिम शाह अवश्य फीरोज तुगलक का कोई अप्रसिद्ध सेनापति रहा होगा। फीरोजशाह और भोगीश्वर का सम्बन्ध भी यहाँ एक प्रमाण हो सकता है (कीर्त्ति०) किन्तु कीर्त्तिसिह ने कीतिलता में कई जगह इब्राहिम शाह को 'बादशाह' या 'सुल्तान' कहा है, फिर एक अप्रसिद्ध सेनापति को ऐसा

---

१. सुभद्र झा, सांग्स आव विद्यापति, भूमिका, पृ० ४१-४२।

कहना ठीक नहीं मालूम होता। इस कठिनाई को श्री झा ने दूर कर दिया है। उनका कहना है कि आदर के लिए ऐसा कहा जा सकता है। जैसा मिथिला में राजा के भाई, या राजघराने के किसी व्यक्ति को 'राजाधिराज' कह दिया जाता है।

इस तरह झा के मत से जोनापुर, योगिनीपुर (पुरानी दिल्ली) था जो जञोन (यमुना) के नीर से प्रक्षालित था और जहाँ फीरोजशाह बादशाह था जिसका सेनापति कोई अप्रसिद्ध इब्राहिम शाह था जिसे कीर्त्तिसिंह आदर के लिए बादशाह भी कहा करते थे।

इस दूरारूढ़ कल्पना के लिए डा० सुभद्र झा के पास दो आधार हैं। पहला ग्रियर्सन के टेस्ट आव् मैन की दो कहानियो में आया योगिनीपुर शब्द जिसे उन्होंने पुरानी दिल्ली का कथा कहानियों में आनेवाला नाम बताया है। प्राचीन पुस्तको में कई स्थानों पर दिल्ली का नाम योगिनीपुर बताया गया है। किन्तु इसका 'जोनापुर' हो जाना अवश्य कठिन है।

अब रहा शब्द 'जञोन' जिसे डा० झा ने यमुना कहा है। प्राकृत मे 'यमुना का' 'जउणा' हो जाता है (प्राकृत व्याकरण ४।१।१७८) इसलिए 'जञोन' हो सकना नितान्त असम्भव तो नही है। पर देखना होगा कि वस्तुतः यह शब्द है क्या ? कीर्त्तिलता में एक पंक्ति आती है—

फरमान भेलि, कञोण साहि (३।२०)

यहाँ 'कञोण' का अर्थ है 'कौन'। जिसका अपभ्रंश में 'कवण' रूप मिलता है। कीर्त्तिलता मे ही कवण (१।१३), कमण (२।२५३) रूप मिलते हैं। यह कञोन 'कवण' 'कः पुनः' का विकसित रूप है।

इसी तरह 'जञोन' जिसका अर्थ है जौन यानी जो। 'जवन' का प्रयोग तो आज भी पूर्वी हिन्दी में पाया जाता है। कवण, कओन की तरह ही जवण, जओन रूप भी मिलते हैं। ऐसा ही एक शब्द और है।

जेञोन दरबार मेञोणे (२।२३६) यानी जिस दरबार में। बाबूराम सक्सेना ने इसकी व्युत्पत्ति (जेञोन ∠ जेमुना) से की है।

इस तरह हमने देखा कि यहाँ जेंश्रोन का अर्थ यमुना नदी नही है। सक्सेना द्वारा सांकेतित 'ख' प्रति में स्पष्टतः 'जौन' लिखा हुआ है।

इब्राहिम शाह की जैसी निराधार कल्पना डा० सुभद्र झा ने की है, वह तो हास्यास्पद कोटि तक पहुँच जाती है। कीर्त्तिलता में जिस इब्राहिम शाह का जिक्र है वह जौनपुर (उत्तरप्रदेश) का प्रसिद्ध इब्राहिम शाह ही था। राजा गणेश्वर की मृत्यु १३७१ ई० मे हुई और कीर्त्तिसिंह इब्राहिम शाह को १४०२ ई० में तिरहुत ले आए, इसमें कोई गड़बड़ी नहीं है। ३१ वर्ष के मध्यान्तरित समय में कीर्त्तिसिंह कुछ कर नहीं सकते थे क्योंकि वे उस समय काफी छोटे रहे होंगे, और फिर कुछ कर सकने के लिए अवसर की भी अपेक्षा होती है। उस समय की मिथिला के विषय मे विद्यापति ने लिखा है कि चारो ओर अराजकता फैली थी, ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने घरो पर कब्जा कर लिया। भृत्यो ने स्वामियों को पकड़ लिया, धर्म नष्ट हो गए, काम-धन्धे ठप हो गए। जाति-अजाति में शादियाँ होने लगीं, कोई काव्य-रस का समझनेवाला न रहा, कवि लोग भिखारी होकर इधर-उधर घूमते रहे। जाहिर है, ऐसी अवस्था तुरन्त नहीं हो जाती। इस तरह के सांस्कृतिक विनिपात में कुछ समय लगता ही है। इस तरह की संस्कारहीनता एक साल में ही नहीं आ जाती, तय है कि इस प्रकार तिरहुत से गुणों के तिरोहित होने में कुछ समय लगा होगा।

> अक्खर रस बुज्झनिहार नहिं कबि कुल भमि भिक्खारि भउं
> तिरहुत तिरोहित सब्ब गुणे रा' गणेस जब सग्ग गउं
> (२।१४-१५)

विद्यापति भी उस समय छोटे रहे होंगे, जौनपुर के वर्णन से लगता है कि विद्यापति ने नगर देखा था, संभवतः राजा के साथ गए हों, क्योंकि जौनपुर का ऐसा बिम्बपूर्ण चित्रण बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष के सम्भव नहीं है। ये सब दस-ग्यारह वर्ष के विद्यापति से तो कभी सम्भव नहीं हो सकता। मेरा अनुमान है कि उस समय विद्यापति की अवस्था पचीस-

तीस के आसपास रही होगी, इसी से मैंने पहले ही कहा कि कीर्त्तिलता को प्रथम रचना मानना ठीक नहीं है। इस तरह विद्यापति का जन्म १३७५ ईस्वी के आसपास सम्भव मालूम होता है। गणेश्वर के दरबार में गणपति ठाकुर के जाने-आने की बात केवल जनश्रुति पर ही आधारित है। इसलिए गणेश्वर की मृत्यु के समय विद्यापति का होना प्रमाणित नही होता।

इब्राहिम शाह के सम्बन्ध में एक और भी ऐतिहासिक सत्य कीर्त्तिलता में सुरक्षित है। कीर्त्तिलता में विद्यापति लिखते हैं कि कुमार कीर्त्तिसिंह और वीर सिंह के निवेदन पर राजा गणेश्वर के हत्यारे असलान को दण्ड देने के लिए इब्राहिम शाह की सेना तैयार हुई, किन्तु भाग्य की लेखा को कौन टारे, सेना सजी थी पूरब जाने के लिए किन्तु चली पश्चिम।

पुव्वे सेना सज्जियउ पश्चिम हुअउ पयान
आण करइते आण भउं विहि चरित्त को जान (३।४८-४६)

तारीख-ए-मुबारकशाही से पता चलता है कि १४०१ ईस्वी में ज्योंही सुल्तान इब्राहिम शाह जौनपुर की गद्दी पर बैठा, दिल्ली के सुलतान महमूद और उसके सेनापति इकबाल ने कन्नौज पर आक्रमण किया। इब्राहिम एक वृहद् सेना लेकर उसके साथ युद्ध करने गया।[1] इसी घटना की ओर कीर्त्तिलता में संकेत किया गया है। राजकुमारों की प्रार्थना पर इब्राहिम तिरहुत जाने को तैयार तो हुआ, किन्तु उपर्युक्त घटना के कारण उसे पश्चिम जाना पड़ा। लाचार दोनों भाई इब्राहिम शाह की सेना के साथ-साथ बहुत दिनों तक घूमते रहे। उनकी करुण अवस्था का अत्यन्त हृदय-विदारक चित्रण विद्यापति ने किया है। उनके पास न अन्न था, न वस्त्र, घोड़ों के लिए घास तक नहीं मिलती। शरीर सूख कर काँटा हो गया, वे गिन-गिन कर उपवास करने लगे। अपने नायकों की इस विपन्न अवस्था का चित्रण विद्यापति ने काल्पनिक करुणोत्पादन के लिए नही किया है बल्कि वह एक ऐतिहासिक सत्य है।

१. तारीख-ए-मुबारकशाही डा० कमलकृष्ण वसु का अनुवाद पृ० २६६-६७।

विद्यापति के काल-निर्णय के सिलसिले मे अन्य प्रमाणो पर भी विचार करना चाहिए। विद्यापति के दो ऐसे पद मिलते हैं जो गियासउद्दीन आजमशाह और नशरत शाह को समर्पित किये गए हैं—

कविशेखर भन अवरुव रूप देखि
राए नसरत साह नेजलि कमलमुखि

डा० उमेश मिश्र ने लिखा है कि नशरतशाह प्रसिद्ध नसीबशाह दिल्लीश्वर अलाउद्दीन हुसेनशाह के अठारहों पुत्रो में सबसे बड़े थे। यह बड़े योग्य थे और पिता के मरने पर सन् १५२१ ईस्वी में इन्हीं को राज्य मिला। इस नरसतशाह ने १५३० के लगभग तिरहुत पर चढ़ाई की।[१] इस तर्क के आधार पर मेरी मान्यता के अनुसार विद्यापति की की आयु १५५ वर्ष के आसपास होती है, जो बिल्कुल असम्भव है। वस्तुतः यह नसरतशाह और कोई नहीं फिरोज तुगलक का पौत्र था, जिसने १३९४ ईस्वी से १३९९ ईस्वी तक शासन किया और विद्यापति के पद जो आरम्भिक अवस्था के लिखे गए थे, इसी नसरत शाह को समर्पित किये गए हैं।

१४११ ईस्वी में राजा शिवसिंह के सिंहासनारोहण पर विद्यापति ने अवहट्ठ भाषा में एक छोटी-सी रचना की है, जिसकी पंक्तियाँ ये हैं—

अनल रंध्र कर लक्खन नरवए सक समुद्द कर अगिनि ससी
चैत करि छठि जेठा मिलिअओ वार वेहप्पउ ए जाउलसी
विज्जावइ कविवर एहु गावइ मानव मन आनन्द भएओ
सिंहासन सिबसिंह बइट्ठो उच्छवे वैरस विसरि गएओ

२९३ लक्ष्मणाब्द १३२४ शक के चैत मास की कृष्ण षष्ठी ज्येष्ठा नक्षत्र वृहस्पतिवार को संन्ध्याकाल में देवसिंह ने पृथ्वी छोड़कर सुरलोक प्रयाण किया और राजा शिवसिंह सिंहासन पर बैठे। शिवसिंह विद्यापति के सर्वप्रिय आश्रयदाता थे, जिनके नाम के समर्पण के साथ कवि ने ढाई-

१. हिस्ट्री आव बंगाल चार्ल्स स्टुअर्ट, भाग ४ पृ० १३८, विद्यापति ठाकुर पृ० ४६ पर उद्धृत।

सौ के आस-पास उच्च कोटि के शृंगारिक पदों की रचना की। विद्यापति के द्वारा रचित एक पद में कहा गया है कि शिवसिंह के युद्धक्षेत्र से तिरोधान के बत्तीस वर्ष बाद विद्यापति ने एक स्वप्न में उन्हे देखा और उन्हें अपनी मृत्यु का आभास होने लगा—

सपन देखल हम शिवसिंह भूप
बत्तीस बरस पर सामर रूप
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन
अब भेलहुँ हम आयु विहीन

राजा शिवसिंह का तिरोधान १४१५ ईस्वी के आस-पास माना जाता है, ऐसी स्थिति में १४४७ ईस्वी के कुछ बाद विद्यापति की मृत्यु सम्भावित है। श्री शिवनन्दन ठाकुर ने ब्रह्मवैवर्त पुराण से स्वप्न-फल के प्रकरण को मिलाकर यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि स्वप्न के आठ महीने बाद विद्यापति की मृत्यु हुई।[1] किन्तु नेपाल दरबार की लाइब्रेरी में सुरक्षित हलायुध मिश्र की पुस्तक ब्राह्मणसर्वस्व की पाण्डुलिपि विद्यापति के एक शिष्य ने ३४१ लक्ष्मण-संवत् में की। पाण्डुलिपि के अन्त में कहा गया है कि लिपि के समय रूपधर विद्यापति के पास पढ़ रहा था।

सत्य तो यह है कि विद्यापति का जन्म-मृत्यु काल नाना प्रकार के सत्यासत्य प्रमाणों के जाल से आच्छन्न है।

डा० विमानविहारी मजूमदार सभी प्रमाणों के अध्ययन के बाद निम्नलिखित निर्णय पर पहुँचे है—

१—१३८० ईस्वी के आसपास विद्यापति का जन्म

२—१३९५-९६ ईस्वी के बीच पद लिखकर गियासउद्दिन और नसरत शाह को उत्सर्ग करना। १३९६-९७ ईस्वी के बाद जौनपुर के प्रथम सुलतान ने तिरहुत जीता। १३९७ के बाद नसरत खान के सुलतान पद पर दावा करने के पहले ये दोनों पद लिखे गए थे।

३—१४०० ईस्वी के आसपास नैमिषारण्य निवासी देवसिंह के आदेश से भूपरिक्रमा की रचना।

---

१. महाकवि विद्यापति, पृ० ३६-३९।

४—१४०२-१४०४ ईस्वी के बीच इब्राहिम शाह द्वारा कीर्तिसिंह को मिथिला का सिंहासन प्रदान और उसी समय कीर्त्तिलता की रचना।

५—१४१० ईस्वी में विद्यापति के आदेश से 'काव्यप्रकाशविवेक' की पोथी की अनुलिपि। इसी समय कवि अलंकार शास्त्र का अध्यापन करते थे। इसी समय पुरुष परीक्षा की रचना और देवसिंह की मृत्यु के पहले अथवा पश्चात् कीर्त्तिपताका की रचना।

६—१४१०-१४१४ ईस्वी के बीच शिवसिह के राज्यकाल में दो सौ पदों की रचना।

७—१४१८ ईस्वी में द्रोणवर के अधिपति पुरादित्य के आश्रय मे राजबनौली में लिखनावली की रचना।

८—१४२८ ईस्वी में इसी राजबनौली मे विद्यापति द्वारा भागवत की अनुलिपि का समाप्त करना।

९—१४३०-४० ईस्वी के बीच पद्मसिंह और विश्वास देवी के नाम से एक पद की रचना और शैवसर्वस्वसार और गंगा-वाक्यावली की रचना।

१०—१४४०-६० ईस्वी के बीच विभागसागर, दान-वाक्यावली और दुर्गाभक्तितरंगिणी की रचना।

११—१४६० ईस्वी में स्मृति के अध्यापक के रूप में ब्राह्मण-सर्वस्व का अध्यापन।

इस दिशा में 'सर्च रिपोर्ट' के अनुशीलन के समय मुझे लक्खनसेनि कवि की कुछ पक्तियाँ दिखाई पड़ीं। लखनसेनि कवि का रचना-काल १४८१ सम्वत् दिया हुआ है, यानी १४२४ ईस्वी। रचनाकार जौनपुर के बादशाह इब्राहिम शाह का समकालीन है, और उसने बादशाह के प्रताप की प्रशंसा भी की है, यही नही तत्कालीन भारत की अवस्था का जो चित्रण लखनसेनि ने खींचा है वह आश्चर्यजनक रूप से विद्यापति के वर्णन से मेल खाता है।

बादशाह जे वीराहिमसाही, राज करइ महि मंडल माही

आपुन महाबली पुहुमी धावै, जउनपुर मंह छत्र चलावै
सम्बत चौदह सइ एक्यासी, सक्खनसेनि कवि कथा प्रगासी

'जउनपुर' के इब्राहिम शाह का काल १४२४ ईस्वी तक तो था ही। इसी के साथ लक्खन सेनि कुछ और महत्वपूर्ण व्यक्तियों का जिक्र करता है–

जैदेव चले सर्ग की बाटा, और गए घाघ सुरपति भाटा
नगर नरिन्द्र जे गए उनारी, विद्यापति कइ गए लाचारी

इन पंक्तियों से लगता है कि १४२४ ईस्वी तक विद्यापति का शायद स्वर्गवास हो गया था क्योंकि उनका नाम जयदेव और घाघ के साथ ही कवि ने लिया है और जयदेव को तो स्पष्ट ही 'स्वर्ग की बाट' गए, लिखा है। किन्तु इस तिथिकाल को विद्यापति का अन्तिम समय मानने में कठिनाई दिखाई पड़ती है। फिर भी यह एक विचारणीय सवाल तो है ही। वैसे कहा जाता है विद्यापति ने लक्ष्मण सम्वत् २९९ यानी १४१८ ईस्वी में राजा पौरादित्य के समय में 'लिखनावली' का निर्माण किया और यही ३०९ लक्ष्मण सम्वत् यानी १४२८ ईस्वी में भागवत की एक प्रति लिखना समाप्त किया। यहाँ ईस्वी सन् को १११९ जोड़कर निश्चित किया गया है। और इस तरह लखनसेनि का १४२४ वाला काल ठीक नहीं बैठता। विद्वानों ने इस दिशा में कई प्रकार के प्रमाणों के आधार पर विचार किया है, इसी दिशा में मै एक प्रमाण लखनसेनि का भी प्रस्तुत करता हूँ, अस्तु।[1]

१. लखनसेनि की रचना हरिचरित्र विराट पर्व का वर्णन १९४४–४६ की सर्च रिपोर्ट (नागरी प्रचारिणी सभा, अप्रकाशित) में दिया हुआ है। रिपोर्ट का अंश नागरी प्रचारिणी पत्रिका में छपा भी है।

जीवन-वृत्त

जैसा कि कवि के काल-निर्णय के सिलसिले में मैंने निवेदन किया है कि विद्यापति के जीवन-वृत्त का पता देने वाली ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। जो कुछ सामग्री प्राप्त होती है वह उनके जीवन से सम्बद्ध एकाध घटनाओ के विषय मे यत्किंचित् प्रकाश डालने में ही सक्षम है। ऐसी अवस्था में कवि के जीवन-वृत्त का विवरण केवल उनकी रचनाओं में वर्णित वस्तु-तत्त्व तथा उनके परिपार्श्व में अभिव्यक्त भावों के भीतर निहित वैयक्तिक संकेतों तक ही सीमित हो सकता है। अर्थात् हम यत्किंचित प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के प्रकाश में उनके जीवन के सम्बन्ध मे कुछ मोटी धारणायें बनाकर उनकी पुष्टि के लिए रचनाओं से कुछ अन्तः-साक्ष्य ढूँढ़ सकते हैं। इस प्रकार का कार्य सदा ही खतरे से भरा होता है क्योंकि यह अनिवार्यतः सही नही है कि किसी कवि की रचनाओ में अभिव्यक्त भाव-धारा और उसमें उपस्थित घात-प्रतिघात उसके जीवन का प्रतिफलन ही सूचित करें। यह सत्य है कि कवि का जीवन उसकी वैयक्तिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है और वह चाहकर भी अपनी वर्ण्य-वस्तु को उन प्रभावशाली प्रभावों से अलग नही कर पाता; किन्तु वर्ण्यवस्तु के साथ संलग्न भावो के आधार पर कवि के जीवन-वृत्त के निर्माण का कार्य सदा आनुमानिक ही कहा जायगा। प्रसिद्ध कवियों के जीवन के साथ किंवदन्तियों का घटाटोप भी कम नही होता। लोकप्रियता सदा ही लोक-मानस की रंगीन कल्पनाओं से अभिषिक्त हुआ करती है। जनता के पास अपने प्रिय व्यक्ति के लिए प्रतिदान में समर्पित करने के लिए केवल कल्पना के सुमन होते है। इसी कारण जो व्यक्ति जितना ही अधिक लोक-प्रिय होता है उसके व्यक्तित्व के चारों ओर निजंधरी कथाओं का जाल

भी उतना ही सघन होता जाता है। विद्यापति का जीवन-वृत भी इसी प्रकार को रंगीन कथाओं से आच्छन्न है। निजंधरी कथायें सर्वथा निर्मूल भी नहीं होती। निजंधरी (Legend) का अर्थ ही है जनता के भावों से अलंकृत ऐतिहासिक सामग्री (Folk-embroiderd from historical material)। यह अलंकरण जितना ही अधिक घना होता है, ऐतिहासिक सामग्री का रूप उतना ही धूमिल। इस कारण निजंधरी कथाओं के पेट में से सत्यांश को निकाल पाना बहुत कठिन होता है; किन्तु यह असंभव नही है।

(विद्यापति का जन्म मिथिला के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ। १४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का वह काल मिथिला के लिए विनिपात और दुःख का काल था। मिथिला नरेश गणेश्वर की असलान नामक सुलतान ने २५२ लक्ष्मणाब्द में छलपूर्वक हत्या कर दी थी। राजा की मृत्यु के बाद देश में भयकर अराजकता छा गई। विजेता के अत्याचार से पीडित जनता न केवल दारिद्रच का शिकार हुई बल्कि सांस्कृतिक पतन का भी। विद्या-पति ने बड़े शोक भरे शब्दों में लिखा है कि मिथिला में कोई गुण अवशिष्ट नही रहा, कवि लोग भिखारी बनकर मारे-मारे फिरते रहे। कीर्तिकला में उन्होंने तत्कालीन मिथिला की अवस्था का इतना कारुणिक चित्रण उपस्थित किया है वह न केवल हृदय-द्रावक बल्कि भयोत्पादक भी है। इस परिस्थिति को देखते हुए यह अनुमान करना निराधार न होगा कि कवि का कैशोर दुःखपूर्ण परिस्थितियों की छाया में व्यतीत हुआ। विद्यापति का वंश सदैव से विद्या और वैभव का स्वामी रहा है। उनके पूर्वज कर्मादित्य, देवादित्य आदि न केवल प्रसिद्ध विद्वान् बल्कि अपने समय के उच्च शासनाधिकारी भी थे। विद्यापति ने अपने इतने सम्भ्रान्त और प्रसिद्ध वंश के किसी व्यक्ति का उल्लेख नही किया है। इस आधार पर डा० विमानविहारी मजूमदार ने यह अनुमान किया कि कवि ने शायद अपेक्षा-कृत निम्न परिस्थितियों मे रहने के कारण अपने परिवार के व्यक्तियों का उल्लेख नही किया। उन्होंने लिखा है कि "आत्मसम्मान के विषय में सचेतन अपेक्षाकृत दरिद्र बुद्धिजीवी व्यक्ति अपने सम्बन्धी बड़े लोगों का परिचय नहीं देना चाहते हैं क्या इसीलिए विद्यापति ने कही भी, किसी ग्रंथ अथवा

पद में, देवादित्य, वीरेश्वर, गणेश्वर, चण्डेश्वर, गोविन्द दत्त, रामदत्त प्रभृति ख्यातिमान एवं प्रभूत ऐश्वर्यशाली व्यक्तियो के साथ अपने सम्बन्ध की कोई बात नही लिखी है ?"[1] डा० मजूमदार स्वय ही यह प्रश्न शंका के रूप में ही उठाते है इसलिए इसके विरोध की आवश्यकता नही प्रतीत होती। वैसे यह कथन पूर्णत: निराधार है क्योकि विद्यापति का पूरा जीवन दु:ख और दारिद्रय में नही व्यतीत हुआ। और न तो वे अपने सम्भ्रान्त वंश के लिए किसी भी प्रकार असम्मान के कारण ही हो सकते थे। वस्तुत: यह भारतीय कवियो की एक अद्भुत शालीनता रही है कि उन्होने कभी भी अपने को प्रचारित करने का प्रयत्न नहीं किया। वैसे यह सत्य भी मान लिया जाय कि विद्यापति का जीवन बहुत कष्टमय था और उन्होंने अपनी स्थिति के प्रति आत्मग्लानि के भाव के कारण ही अपने पूर्वजो का नाम लेना उचित नहीं माना तो भी सरस्वती के इस दुर्ललित पुत्र की अभूतपूर्ण ख्याति में कोई फर्क नही आता।

गणेश्वर राजा की मृत्यु के बाद विद्यापति बहुत दिनों तक निराश्रित घूमते रहे। राजकुमार कीर्तिसिंह जो वय मे विद्यापति के बराबर ही थे अपने खोये हुए राज्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे; किन्तु वे इस स्थिति मे नही थे कि कवि को आश्रय दे पाते। विद्यापति इन्ही दिनों इधर-उधर घूमते हुए नशरत शाह और आजमशाह जैसे राजपुरुषो के सम्पर्क में आये। कवि ने अपने कई पदों मे कवि भणिता के साथ इन लोगो के नाम लिए है। उदाहरण के लिए—

कविशेखर मन अपरुव रूप देखि
राय नरसद साह भजलि कमलमुखि

अथवा :

भनइ असोधर नव कवि शेखर
पुहवी तेसर कहाँ
साह हुसेन भृंग सम नागर
मालति सेनिक जहाँ

---

१. विद्यापति, डा० विमान विहारी मजूमदार द्वारा सम्पादित, भूमिका, पृ० ७

एक पद मे उन्होने ग्यासदीन का भी नाम लिया है —

वेकताओ चोर गुपुत करि कत खनि
विद्यापति कवि भान
महलम जुगपति चिरे जीबे जीवथु
ग्यासदीन सुरतान

ग्यासदीन सुरतान अर्थात् ग़ियास-उद्दीन आजमशाह ने अपने पिता सिकन्दर शाह से विद्राह करके ७९३ हिजरी में बगाल पर अधिकार कर लिया। यदुनाथ सरकार इनका शासन-काल ईस्वी सन् १३८९ से १४०९ तक बताते है।[1] विद्यापति ने कीर्तिलता मे इब्राहिमशाह द्वारा तिरहुत के उद्धार की बात लिखी है। इब्राहिम शाह १४०३ में गद्दी पर बैठा। ऐसी स्थिति मे विद्यापति से आज़म शाह या ग्यास-उद्दीन की भेंट तब हुई होगी जब कीर्तिसिंह का अभिषेक नही हुआ था। नशरतशाह के विषय में हम पीछे विचार कर चुके है। जो हो विद्यापति जैसे संस्कारी ब्राह्मण कवि के द्वारा कविताओ का विदेशी मुसलमान-शासकों को, जिनके प्रति उनके मनमें आदर का भाव न था जैसा कि कीर्तिलता में उन्होंने स्पष्ट व्यक्त किया है, इन रचनाओं का समर्पित किया जाना इस बात का द्योतक है कि कवि की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। उन्हें अपने तमाम संस्कारों को दबाकर विवशता की हालत में विदेशी शासकों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करनी पड़ी।

ईस्वी सन् १४०२-३ मे जौनपुर के शासक इब्राहिम शाह की सहायता से तिरहुत का उद्धार हुआ। कीर्तिसिह ने जौनपुर जाकर सुल्तान से सहायता माँगी। कीर्तिलता मे कवि ने जौनपुर का बड़ा विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। वहाँ के बाजारो, सड़को, अट्टालिकाओं तथा टेढ़े-मेढ़े रास्तो का इतना बारीक वर्णन शायद चाक्षुष प्रत्यक्ष बिना संभव नही हो सकता। कवि ने राजमहल के वर्णन में मुसलमानी भवन-निर्माण शैली की जानकारी का परिचय भी दिया है। लगता है कि उन्होंने यह सब कुछ अपनी आँखों

1. History of Bengal. Vol. II, Page 116

से देखा है अन्यथा एक एक वस्तु का इतना सूक्ष्य चित्रण कठिन होता। उदाहरण के लिए उन्होने राजमहल का वर्णन करते वक्त केवल उसकी भव्यता का जिक्र ही नही किया है बल्कि चहारदीवारी, सदरदर, वारिगाह, षोआरगह, दरबारेखास, आदि हिस्सो का अलग-अलग और सिलसिलेवार विवरण प्रस्तुत किया है। इनसे अनुमान होता है कवि कीर्तिसिह और उनके भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर गए थे। उन्हे बहुत दिनो तक सुलतान के दर्शन की प्रतीक्षा मे वहाँ रुकना पड़ा था। विद्यापति ने लिखा है कि सैकड़ो राजे-महाराजे दर्शन की आकाक्षा से आते और किले के सामने वर्षो घूमते रहते, पर दर्शन न मिलता। कीर्तिसिह ने सुलतान को जाने कितनी अमूल्य वस्तुये भेट मे दी तब कही खुदाबन्द सुलतान प्रसन्न हुए और वज़ीर की कृपा से भेट की व्यवस्था हुई। कीर्तिलता की भाषा मे न केवल फारसी शब्दो का प्रयोग हुआ है बल्कि अवधी भाषा के भी बहुत से रूप दिखाई पड़ते हैं। इससे लगता है कि विद्यापति जौनपुर अवश्य आये थे। खैर, कीर्तिसिंह का प्रयत्न सफल हुआ। असलान युद्ध-भूमि मे पीठ दिखाकर भाग खड़ा हुआ? तिरहुत को लुप्त वैभव फिर मिला, राजा के अभिषेक के समय वाद्य-गीत के स्वरो मे विद्यापति ने भी अपने हृदय का उल्लास बिखेर दिया। कीर्तिसिंह के प्रेम-प्रसगो को लेकर बाद में कवि ने कीर्ति-पताका की रचना की।

ईस्वी सन् १४१० से १४११ के चार वर्षो का समय कवि विद्यापति के जीवन के सर्वाधिक उल्लासपूर्ण वर्ष थे। वर्षो की अशान्ति के बाद एक बार फिर मिथिला मे शान्ति और समृद्धि की स्थापना हुई। शिवसिह राजा थे और लखिमा देवी रानी। विद्यापति को राजा शिवसिह के द्वारा जो सम्मान प्राप्त हुआ वह अभूतपूर्व था। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि विद्यापति दरबारी कवि थे पर अपनी तरह के। उन्होंने राजा की प्रशस्ति गाई; पर अपने को चारण नही राज-सखा समझा। कीर्तिसिंह के प्रसंग मे उन्होंने अपने को उनका 'खेलन कवि' बताया है। शिवसिह के वे सखा-कवि थे। शिवसिंह की कई रानियाँ थी; पर लखिमा के सौदर्य और

बुद्धि का कोई जवाब नही था। लखिमा पटरानी थी, वह विदुषी थी, सुन्दरी थी और कवयित्री भी थी। कहा जाता है कि अन्तःमहल में विद्यापति के गीतों का राजा-रानी के समक्ष सस्वर पाठ होता था। विद्यापति ने समवयस्क युवा राजा और युवती रानी को जो गीत समर्पित किये हैं वे प्राय: राधाकृष्ण के प्रेम, रूपासक्ति, मान और कामकला के विविध पक्षों को स्पष्ट करने वाले है। ऐसे गीतो को देखने से मालूम होता है कि कवि का जीवन बहुत सुखी और उल्लासपूर्ण था। मैने आरभ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि मध्यकालीन लेखको पर, खासतौर से दरबारी कवियों पर कामशास्त्र का बहुत घनिष्ट प्रभाव पड रहा था। विद्यापति ने इस प्रकार के श्रृंगारिक पदों के अन्त में कवि भणिता के साथ शिवसिह के बारे में जो प्रशस्ति वाक्य दिये है, वे उनकी कामकला विदग्धता को प्रकट करते हैं। वे सर्वत्र लिखते हैं कि इस गूढ रहस्य को लखिमा के साथ रमण करने वाले राजा शिवसिंह समझते है। ऐसे प्रसंगों को देखने से अनुमान किया जा सकता है कि विद्यापति शिवसिंह के न केवल मित्र बल्कि अन्तरंग थे। शिवसिंह के प्रति जितने आन्तरिक प्रेम का परिचय इन गीतों से ध्वनित है, वह अपने तरह का है। ऐसा प्रेम शायद ही किसी दरबारी कवि को किसी राजा से प्राप्त हुआ हो। यह विद्यापति के सर्वाधिक उल्लास के दिन थे।

पर समय सदा एक सा नही रहता। विद्यापति के आनन्द की अतिशयता पर नियति की भृकुटि खिंच चुकी थी। राजा ने दिल्ली को कर देना बन्द कर दिया, मुसलमानी फौज ने मिथिला को बरबाद कर दिया और शिवसिह कैद करके दिल्ली ले जाए गए। संभवत: वहीं उनकी मृत्यु भी हुई। प्रिय राजा के वियोग ने कवि के हृदय के उल्लास-पूर्ण तारो को तोड़ दिया। प्रणय, मासल सौदर्य, काम-मुद्राये, और प्रेम की रंगीन दुनिया टकराकर चूर चूर हो गई। मिलन के मादक गीतो के स्थान पर विरह के उत्तप्त स्वर फूट पड़े। विरह के गीतों के पीछे छिपी इस करुण प्रेरणा को पहचानने का कोई आधार नही। लखिमा की अवस्था तो और भी

अधिक शोचनीय रही होगी। मैंने प्रथम अध्याय में लखिमा ठकुरानी के विरह गीत नाम से प्रसिद्ध श्लोकों मे से एक उद्धृत किया है। इस श्लोक में विरह की आर्त पीड़ा की बड़ी हृदय-द्रावक विवृति दिखाई पडती है। विद्यापति ने अपने प्रिय राजा की विदुषी पत्नी को, जिसके प्रति उनके हृदय मे भी प्रेम का मधुर भाव सयोजित था, सान्त्वना देने का बहुत प्रयत्न किया। विरह गीतों के अन्त मे सर्वत्र कवि ने विरहिणी को यह आश्वासन दिया है। वे बार-बार कहते हैं कि कामिनि इतनी विह्वल न बन, तेरे प्रियतम अवश्य ही लौटकर आयेंगे। वर्षा के नील मेघों से आच्छन्न धरती को देखकर भरे हृदय से वे कहते हैं कि क्या हुआ यदि वह इस पावस मे नही आया, कातिक मास के आरंभ मे उसका आना तो निश्चित है। विरहिणी पति के वियोग में जीवित चिता में प्रवेश करने की बात किया करती थी, कवि ने इसी को लक्ष्य करके कहा है—

सून सेज मोहि सालय रे
पिया बिनु घर मोयं आजि
बिनति करों सहलोलिनि रे
मोंहि देहि अगिहर साजि
विद्यापति कवि गाओल रे
आनि मिलब प्रिय तोर
लखिमा देइ बर नागरि रे
राय सिव सिंह नहिं मोर

क्या इस पद से यह ध्वनित नहीं है कि लखिमा शिवसिंह के दारुण विरह को संभालने में असमर्थ अपने को नष्ट कर देने की बात सोचा करती थी, कवि ने स्पष्ट कहा है, ओ लखिमा, ओ श्रेष्ठ नागरिका, राजा शिवसिंह तुम्हें भूले नही है, वे शीघ्र ही लौटेंगे। एक दूसरे पद के अन्त मे यही बातें फिर दुहराई गई है—

भनइ विद्यापति अरे रे कमलमुखि
गुन गाहक पिया तोर

राजा सिवसिह रूप नारायन
सहज एको नहिं भोर

अथवा :—

मनइ विद्यापति गाओल धनि धइरज धर रे
अचिरे मिलत तोहि बालम पुरत मनोरथ रे

पर मनोरथ न पूरा; मात्र शब्दो से झूठी सान्त्वना देने के मिथ्योपचार को विद्यापति खूब समझते थे। प्रिय विश्लेष-दु:ख की पीड़ा मे अपने सुहाग के प्रति आशकित विरहिणी को वे सर्वत्र सुहागिनि, कामिनि आदि सम्बोधन से सचेत करते है; पर सत्य उनके निकट छिपा न था। इसीकारण विरह के पदों मे उनके मन की कातरता छिप न सकी। कवि ने बाद में अपने मन को झूठी बातों से भुलाना छोड़ दिया। हमें पता नही कि लखिमा का क्या हुआ। सभवत: प्रिय की विरह पीड़ा की उत्तप्त हवा में यह मुकुलित पुष्प सदा के लिए बिखर कर धूल मे मिल गया। जब सान्त्वना चाहने वाला ही न रहा तो फिर आशा की मिथ्या रेखा ही क्यों खीची जाये, कवि ने निराश होकर कहा :—

हृदयक वेदन बान समान
आनक दु:ख आन नहिं जान
भनइ विद्यापति कवि जय राम
देव लिखल परिनत फल बाम

दैव-दुर्विपाक के सामने कवि ने घुटने टेक दिये। जो कुछ होना था हो गया। आनन्द के क्षण सदा के लिए चले गए।

ईस्वी सन् १४१८ में विद्यापति ने पुरादित्य के राजत्व काल में राज-बनौली मे लिखनावली की रचना की। लिखनावली मे चिट्ठी-पत्री लिखने का तरीका बताया गया है। प्रणय जिसके काव्य की प्रेरणा थी, सौन्दर्य उपादान, अपरूप सौन्दर्य के नवल रूप को वर्षो देखते रहने पर भी जिस कवि के नयन कभी 'तिरपित' नही हुए, उसी ने चिट्ठी-पत्री लिखने वालों के लिए लिखनावली का निर्माण किया। लिखनावली की रचना स्पष्ट ही पेट पालने का बहाना है। इसके आधार पर यह कहा जाय कि कवि

के जीवन का वह समय आर्थिक संकट में बीत रहा था, तो शायद अतिशय कल्पनाप्रियता का दोष लगाया जायेगा किन्तु यह कल्पना यही तक समाप्त नही होती। इसके पक्ष मे एकाध प्रमाण और प्राप्त होते है। नेपाल-राज की लाइब्रेरी में लक्ष्मण-सम्वत् ३९१ की लिखी हुई, ब्राह्मणसर्वस्व की पाण्डुलिपि सुरक्षित है। इसे विद्यापति के शिष्य रूपधर ने तैयार की थी। हलायुध मिश्र के इस ग्रंथ के अन्त मे पुष्पिका में लिखा है कि लिपिकरण के समय रूपधर विद्यापति के पास ब्राह्मण-सर्वस्व पढा करता था। जाहिर है कि कवि उन दिनों विद्यार्थियो को कर्मकाण्ड और स्मृतिशास्त्र का अध्यापन किया करते थे। मै नही सोचता कि यह उनके जीवन की सम्पन्नता का द्योतक है। विद्यापति जैसे अभिजात रुचि के कवि के लिए यह सब विवशता की अवस्था में ही स्वीकार करना पडा होगा।

कष्ट की ऐसी ही परिणत अवस्था में शायद उनके मन मे निराशावादी कातरता का उदय हुआ था। मैने स्पष्ट कहा है कि यह कातरता कवि का स्वभाव नही थी। इस प्रकार के जीवन्त. गत्वर और रोमेण्टिक विचारधारा का कवि कभी भी निराशावादी नही हो सकता। इसी अवस्था में उन्होंने शिव, दुर्गा, कृष्ण और जानकी आदि के स्तुति-पद भी लिखे। इन पदो में भक्त की दीनता और आत्मग्लानि की अभिव्यक्ति है, इसमे शक नहीं। किन्तु इसे हम चाहे तो परम्परा-निर्वाह भी कह सकते है। इस प्रकार की दीनता प्रत्येक भक्त कवि की रचनाओं में दिखाई पड़ती है। तुलसी, सूर आदि कोई भी इस कायरता से बच न सका, क्योकि यह कातरता भक्त के व्यक्तित्व की कमजोरी नही, गुण मानी जाती थी।

विद्यापति की मृत्यु के विषय मे भी कई प्रकार की किवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि उन्होंने शिवसिह के तिरोधान के बत्तीसवें बरस में एक स्वप्न देखा और उन्हें अपनी मृत्यु नजदीक मालूम होने लगी। इस सम्बन्ध में काल-निर्णय वाले प्रसंग में हमने विचार किया है। राजा शिवसिह का तिरोधान-काल १४१५ ईस्वी माना जाता है, ऐसी अवस्था में विद्यापति का मृत्यु-काल १४४७ ईस्वी माना जा सकता है, किन्तु जैसा कि काल-निर्णय वाले अध्याय मे बताया गया, यह संभव नही मालूम होता।

रचनायें

विद्यापति ने संस्कृत, अपभ्रंश और भाषा या प्रारम्भिक मैथिली तीनों ही मे रचनायें कीं। संस्कृत मे उन्होने शास्त्रीय या स्तुतिपरक रचनाये लिखी। संस्कृत उस काल मे केवल थोड़े से शिष्ट जनो की भाषा रह गई थी। विद्यापति ने संस्कृत को बुधजन की भाषा बताया है। उन्होंने लिखा है कि संस्कृत इसके मर्म को नही छूती। देसी भाषा सबसे मीठी है इसीलिए उसी के समान अवहट्ठ मे कीर्तिलता काव्य लिख रहा हूँ—

सक्कय वाणी बुह जन भावइ
पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल वयना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओं अवहट्ठा

इससे स्पष्ट है कि उनके मन मे देसी भाषा के प्रति बहुत प्रेम था। उन्होने संस्कृत में या अवहट्ठ मे काव्य केवल तत्कालीन परम्परा के निर्वाह के लिए ही लिखा। अवहट्ठ मे राजा और सामन्तों के युद्ध और प्रेम प्रसंगो के वर्णन की पद्धति चल पडी थी, उस पद्धति का निर्वाह उन्होंने कीर्तिलता और कीर्ति पताका लिखकर किया। संस्कृत भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार था किन्तु उनकी संस्कृत रचनाओं का महत्त्व राजनैतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से ही आँका जा सकता है शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से नही। इसीलिए हमने सस्कृत रचनाओ का नामोल्लेख मात्र ही किया है उनका साहित्यिक मूल्याङ्कन नही। अवहट्ठ-काव्य का अवश्य ही अपना एक अलग महत्त्व है। इसके विषय मे अवहट्ठ काव्य शीर्षक अध्याय मे अलग विचार किया गया है।

विद्यापति की रचनाये :—

(१) कीर्तिलता—कीर्तिसिंह के शासन काल में उनकी राज्य-प्राप्ति के प्रयत्नों पर लिखित।

(२) कीर्तिपताका—कीर्तिसिंह के प्रेम-प्रसंगों पर आधारित।

(३) भू-परिक्रमा—शिवसिंह की आज्ञा से लिखित, भूगोल सम्बन्धी ग्रंथ।

(४) पुरुष परीक्षा—शिवसिंह की आज्ञा से रचित दण्डनीति-विषयक।

(५) लिखनावली—पुरादित्य के शासनकाल मे राजबनौली मे लिखित। इसे कवि ने अल्प पठित लोगो को चिट्ठी-पत्री लिखना सिखलान के लिए लिखा।

(६) शैवसर्वस्वसार—विश्वासदेवी की आज्ञा से, शैव सिद्धान्त विषयक।

(७) गंगावाक्यावली—विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखित।

(८) विभागसार—नरसिंह की आज्ञा से रचित।

(९) दानवाक्यावली—धींरमति की संरक्षता मे लिखित।

(१०) दुर्गाभक्ति तरंगिणी—धीरसिंह की आज्ञा से।

विद्यापति का यश उपर्युक्त रचनाओं पर आधारित नहीं है। जैसा कि निवेदन किया गया; ये रचनायें एक खास उद्देश्य से किसी न किसी राजा रानी के प्रीत्यर्थ लिखी गईं। इसमें कवि के वैयक्तिक कर्त्तव्य उत्तर-दायित्व और आश्रयदाता राजा की आज्ञा का पालन प्रमुख है उनके हृदय के भाव या अनुभूतियाँ नहीं। इन रचनाओं के अतिरिक्त विद्यापति ने ५०० से अधिक पद लिखे है। ये पद ही उनकी अक्षय कीर्ति के आधार है। राजदरबार के दमघोंट वातावरण मे रहते हुए भी उन्होने इन्ही पदों के सहारे अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखा। इन पदों में कवि की आत्मा के स्वर है, उनके हृदय के कंपन है। इन पदो में कवि ने राजाओं के विलास की नहीं जनता के सहज हृदय की भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। पदावली के पद कई राजा-नवाबों को समर्पित हुए है। इनमें देवीसिह, शिवसिंह और लखिमा, पद्मसिंह और विश्वासदेवी, शिवसिंह के चचेरे भाई अर्जुन और अमर, राघव सिंह, रुद्र सिंह, नरसिंह और धीरमति तथा शिवसिंह के चचेरे भाइयों के लड़के धीरसिंह, भैरवसिंह तथा चन्द्रसिंह आदि के नाम आते है।

पदावली के विभिन्न पाठ

विद्यापति के पदो का संकलन का कार्य बहुत पहले से होता आ रहा है। इतने ख्यातिप्राप्त कवि के इन मधुरपदो को प्रत्येक मनुष्य अपनी सम्पत्ति समझता है, इसी कारण कवि के समय से आज तक जाने कितने व्यक्तियो ने इन पदो को अपने उपयोग के लिए संगृहीत किया होगा। किन्तु इस प्रकार के संग्रह लोकप्रियता की सूचना ही देते है, रचनाओं की प्रामाणिकता की नहीं। रचनाओं की प्रामाणिकता केवल पाठ-विशेषज्ञो द्वारा प्रयत्नपूर्वक सम्पादित संग्रह से ही प्रकट हो सकती है। विद्यापति के पदो का संग्रह जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, चन्दा झा, नगेन्द्रनाथ गुप्त, रामवृक्ष बेनीपुरी, आदि ने किया है। इन सग्रहों मे केवल आकर पोथियों का ही उपयोग नहीं किया गया बल्कि जन-मुख से सुने हुए पदों को भी संकलित कर लिया गया। परिणामतः ये संकलन विद्यापति के पदों की बढ़ती हुई संख्या को सूचित करते हैं, किन्तु वे कितने प्रामाणिक है यह जानना कठिन हो जाता है।

विद्यापति के पदों के हस्तलिखित संग्रह मिथिला, नैपाल और बंगाल मे सुरक्षित है। मिथिला की पोथियों में शिनन्दन ठाकुर द्वारा प्राप्त राम-भद्रपुर की पाण्डुलीपि, रागतरंगिणी तथा तरौणी की ताल-पत्र पोथी-प्रमुख है। राग-तरंगिणी लोचन कवि की कृति है जिसमे यथावसर विद्यापति के ५१ पद संकलित हैं। यह ग्रंथ लोचन कवि ने सत्रहवी शताब्दी में महीनाथ ठाकुर के राजत्वकाल में लिखा था, क्योंकि उन्होंने ग्रंथ मे एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है :

धीरश्री महिनाथ भूप तिलकः शास्तेधुना मैथिलान्

(मंगलाचरण, षष्ठ श्लोक)

सातवें श्लोक को देखने से मालूम होता है कि इस ग्रंथ की रचना कवि ने महीनाथ के छोटे भाई नरपति की आज्ञा से की।

इसप्रकार रागतरंगिणी की प्रति बहुत पुरानी नही है। यह विद्यापति की मृत्यु के ढाई सौ वर्ष बाद लिखी गई है। लेखक ने कवि के इन ५१ पदों को कहाँ से संकलित किया है इसकी कोई सूचना नही मिलती। रागतरंगिणी के ५१ पदों में तीन मे विद्यापति का नाम नही आता किन्तु उनके नीचे कवि लोचन ने 'इति विद्यापते:' लिखा है। जिससे मालूम होता है कि ये पद विद्यापति के ही हैं। दो पदो में कवि के नाम के स्थान पर 'कण्ठहार' भणिता दी हुई है जो उनकी एक उपाधि थी।

मिथिला की दूसरी पोथी रामभद्रपुर की है जिसे शिवनन्दन ठाकुर ने प्राप्त किया था। यह पोथी मूलतः पंडित विष्णु लाल झा को मिली थी जिन्होंने ठाकुर को इसकी प्राप्ति की सूचना दी। ठाकुर ने इस पोथी से पदो को उतारकर 'विद्यापति विशुद्ध पदावली' शीर्षक से अपनी पुस्तक महाकवि विद्यापति में प्रकाशित किया। यह पाण्डुलिपि काफी पुरानी है, इसमें सन्देह नहीं। तालपत्रों पर लिखी इस पोथी में चार लिपिकारों के हस्ताक्षर हैं। सभी तालपत्र भी एक जैसे पुराने नही मालूम होते। डा० विमान विहारी मजूमदार का अनुमान है कि कोई अक्षर अथवा तालपत्र दो सौ वर्षों से कम का नही है। इस पोथी में ३५ पत्र संलग्न हैं, शेष नष्ट हो गए हैं। उपलब्ध पदों की संख्या ९६ है जिनमें ८६ पदों को स्व० शिवनन्दन ठाकुर ने प्रकाशित कराया था।

मिथिला की तीसरी पोथी तरौणी की तालपत्र पोथी कही जाती है। यह पोथी अब प्राप्त नहीं होती इसलिए इसके विवरण आदि के लिए श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त की सूचनाओं पर ही अवलम्बित होना पड़ता है। उन्होंने लिखा है कि इस पोथी में प्रायः ३५० पद थे जिन्हें उन्होंने अपने संस्करण में प्रकाशित किया था।

नेपाल में प्राप्त होने वाली पोथी नेपाल सरकार की लाइब्रेरी में सुरक्षित है। स्व० काशीप्रसाद जायसवाल और डा० अनन्त प्रसाद वन्द्योपाध्याय ने दरभंगा नरेश की आज्ञा से इसकी फोटो कापी तैयार की थी।

इस फोटो कापी का प्रथम खंड पटना कालेज लाइब्रेरी में और दूसरा पटना विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी मे सुरक्षित है।

नेपाल पोथी की लिपि प्राचीन मैथिली ही है। इस पोथी में पदो की सख्या २८७ है।

बगाल मे विद्यापति के पद बहुत लोकप्रिय रहे है। गौडीय वैष्णव भक्तो ने विद्यापति के गीतों को बड़ी सावधानी से सुरक्षित किया है। सबसे प्राचीन पोथी 'क्षणदागीत चिन्तामणि' है जिसे विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ईस्वी सन् १७०५ के आसपास तैयार किया।

बंगाल में तैयार की गई दूसरी पोथी पदामृतसमुद्र है जिसे संकलन कर्ता राधामोहन ठाकुर है। अनुमानतः अट्ठारहवी शताब्दी मे इन्होने इस ग्रंथ का संकलन किया। इसमें कुल ७४६ पद है जिनमे उनके स्वरचित पदों की संख्या २२८ और गोविन्द दास के पद संकलित है। इस संकलन मे संगृहीत विद्यापति के पदों पर बंगला का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। उच्चारण के कारण तो परिवर्तन हुआ ही है, मैथिली के प्रयोगो के स्थानपर बंगला प्रयोग दिए गए है जिससे भाषा मे बहुत अन्तर आ गया है।

अठारहवी शताब्दि के उत्तरार्ध में गोकुलानन्द सेन अर्थात् वैष्णवदास ने पद कल्पतरु का संकलन किया। वैष्णव पदावली के सभी संग्रहों में यह वहत्तम है। इसमें ३१०१ पद है। इसमे विद्यापति के १६१ पद है। डा० विमानविहारी का ख्याल है कि इस संग्रह मे संकलित विद्यापति भणिता से युक्त सभी पद मैथिली कवि विद्यापति की ही रचनायें नहीं है।

देशबन्धु चितरंजन दास के पास संकीर्तनामृत की पोथी उपलब्ध थी। इस संग्रह को १७७१ ईस्वी मे दीनबन्धु दास ने तैयार किया था। इसमें चालीस कवियों के ४६१ पदों का संग्रह है। इसमें विद्यापति के रचे हुए केवल दस पद है।

विद्यापति के पदों के उपलब्ध इन विविध बातों की प्रामाणिकता पर विचार करने की आवश्यकता नही, क्योंकि जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर डा० विमानविहारी मजूमदार ने अपनी पुस्तक 'विद्यापति' मे तथा डा० सुभद्र झा ने सांग्स आव् विद्यापति मे विस्तार से विचार किया है।

जीवन-दृष्टि और धार्मिक मान्यताएं

कोई भी कवि या लेखक अपने वातावरण से अलग होकर नही जीता। वातावरण कवि के जीवन को, उसके व्यक्तित्व को परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ही रूपों में कई प्रकार से प्रभावित करता रहता है। यह सत्य है कि कवि केवल वातावरण की उत्पत्ति नही है, वह वातावरण,—सास्कृतिक और सामाजिक दोनों प्रकार के वातावरण का,—निर्माता भी है। किन्तु निर्माण की यह शक्ति, या उसे बदलने की यह क्षमता भी कवि को उसी से प्राप्त होती है। देश-काल की सास्कृतिक स्थिति किसी कवि के काव्य को प्रभावित करने में समर्थ होती है। श्री हिपोलाइत टेन ने लिखा है कि काल और देश कवि के निर्माण मे निर्णायक तत्त्व माने जाते है। टेन के विचारों को ही आगे चलकर समाजशास्त्री आलोचकों ने बहुत विकसित किया। फ्रासीसी आलोचक वातावरण के इस पूरे प्रभाव को व्यक्त करने के लिए 'मिलियू' (Milieu) शब्द का प्रयोग करते है। वातावरण के सम्यक् अध्ययन के अभाव में हम कभी-कभी किसी कवि के काव्य के अन्त:साक्ष्यों के आधार पर या कभी कभी केवल अनुमान के बल पर उसकी जीवन-दृष्टि तथा धार्मिक मान्यताओं आदि के बारे में नाना प्रकार के विवाद उपस्थित कर देते है। कवि विद्यापति के विषय में भी इसी प्रकार के विवाद चलते है। विद्यापति भक्त थे या शृंगारिक, शैव थे या शाक्त, रहस्यवादी थे या मात्र लौकिक, आदि आदि। इन सभी प्रश्नों का उत्तर विद्यापति के समय की सास्कृतिक और धार्मिक अवस्थाओं के अध्ययन तथा कवि की जीवन दृष्टि के विश्लेषण के आधार पर ही दिया जा सकता है।

विद्यापति को बहुत से आलोचक रहस्यवादी कवि मानते हैं। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने विद्यापति के काव्य के अन्त:स्रोतों का विचार करके यह निश्चित किया कि "राधा और कृष्ण वस्तुत: प्रतीक हैं। राधा जीवात्मा का प्रतीक है जबकि कृष्ण परमात्मा का प्रतीक है। जीवात्मा परमात्मा से मिलन के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। यह प्रयत्न तब तक अप्रतिहत रूप से चलता रहता है जब तक जीवात्मा परमात्मा में लय होकर सायुज्य लाभ नही कर लेता। जीवात्मा अपने सांसारिक प्रपंचों और माया के पाशों मे इस प्रकार आबद्ध है कि वह अपनी आन्तरिक प्रेरणा से परमात्मा को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नहीं करता। इसीलिए उसे ईशोन्मुख करने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। विद्यापति के काव्य मे दूती इसी गुरु का प्रतीक है। यह दूती जीवात्मा या प्रेमिका को निरन्तर परमात्मा से मिलने के लिए प्रेरित करती है। इतना ही नही इस अभिसार या प्रेम-मिलन के प्रत्येक कार्य में वह उसकी सहायता भी करती है।"[1] श्री नागेन्द्र नाथ गुप्त ने, जिन्होंने विद्यापति के पदों को एकत्र संगृहीत किया, अपने एक भाषण मे विद्यापति को रहस्यवादी बताया।[2]

श्री जनार्दन मिश्र ने भी विद्यापति को रहस्यवादी बताया है। उन्होंने लिखा है कि 'विद्यापति के समय में रहस्यवाद का मत जोरों पर था, उसके प्रभाव से बचकर निकलना और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अनुसरण करना उन्हें शायद अभीष्ट न था। अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरुद्ध जाने की शक्ति इनमे न थी। इसीलिए स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा की उपासना की जो धारा उमड़ रही थी उसमें उन्होंने अपने को बहा दिया।[3] श्री जनार्दन मिश्र ने अपने मत की पुष्टि के लिए जिस पद को उद्धृत किया है उसे भी देख लेना चाहिए। वह पद नीचे दिया जाता है—

1. Grierson, Maithili Crestomathy, Page 36
२. पटना विश्वविद्यालय में १९३५ ई० में विद्यापति पर दिये गए भाषण से।
३. विद्यापति, पृ० ४७।

एक दिन छलि नवनीत रे
जल मिन जेहन पिरीत रे
एकहिं वचन विच .भेल रे
हंसि पहु उतरो न देल रे
एकहि पलंग पर कान्ह रे
मोर लेख दूर देस भान रे

इस पद में जीवात्मा का अहंकार तथा बाद में उसकी ग्लानि का चित्रण है। पलंग शरीर है—जहाँ आत्मा के रूप में परमात्मा निरन्तर हृदय में निवास करता है; किन्तु अज्ञान में पड़े जीव के लिए वह जाने कितनी दूर है।

श्री कुमारस्वामी भी विद्यापति के पदों में रहस्यवादी भावों का प्रभाव देखते हैं। 'सांग्स आव विद्यापति' में श्री कुमारस्वामी ने लिखा[१] कि विद्यापति का काव्य गुलाब है, गुलाब। चारों तरफ से केवल गुलाब। यह आनन्द-निकुंज है। यहाँ हमें उस स्वर्ग का दर्शन होता है—वृन्दावन की कृष्णलीला शाश्वत है। वृन्दावन मनुष्य का हृदय देश है। जमुना का किनारा इस संसार का प्रतीक है जो राधा और कृष्ण अर्थात् जीव और ईश्वर की लीला-भूमि है। बंशी की आवाज अदृश्य सत्ता की आवाज है, जीव को परमात्मा की ओर अग्रसर होने का आह्वान है।

कुमार स्वामी के मतों का जोरदार विरोध करते हुए श्री विनयकुमार सरकार ने अपनी पुस्तक 'लव इन हिन्दू लिटरेचर' में लिखा कि कुमार-स्वामी जैसे विद्वान दार्शनिक, कवि, आलोचक की सबसे बड़ी कमजोरी,

---

१. Vidyapati is roses, roses all the way, is a Bower of Bliss there we have the early paradise as it were of an Indian willium morris—Jamuna bank in Vaishnva literature stands for this wored regarded the constant meeting place of Radha and Krishna where amidst the affairs of daily life the soul is arrested, beguiled to her undoing In the flute of Krishna there is call of Infinite.

जो उन्हें इस प्रकार की द्विधापूर्ण और असंबद्ध बातें कहने के लिए प्रेरित करती यह है कि वे कभी भी यह मानने को तैयार नहीं हैं कि वस्तुतः विद्यापति के काव्य की प्रेरणा में शृंगार और कामवासना है। केवल शृंगार और काम-वासना। शृंगार की भावना कभी दूषित नहीं है और न तो विद्यापति को इसके लिए किसी के सामने सफाई देने की ही जरूरत है। शृंगार स्वतः महान् है, वह अपनी महता के लिए किसी का मुखापेक्षी नहीं है।

आगे चलकर विनयकुमार सरकार ने लिखा है कि वस्तुतः कुमार स्वामी जिन्होंने अपनी धारणा बना रखी है कि विद्यापति के शृंगारिक वर्णन भारतीय पारिवारिक जीवन की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, इसे तोपने के लिए विद्यापति के मांसल, ऐन्द्रिक प्रेम-वर्णनों को आध्यात्मिक बनाने का असफल प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः वे विद्यापति की ओर से उनकी प्रेम-भावना के लिए जो मनुष्य के मन को ऊपर उठाती है, ऐन्द्रिकता समझकर सफ़ाई देने के लिए प्रयत्नशील है। किन्तु वे लाख प्रयत्न करके भी राधा-कृष्ण के प्रेम-वर्णन के प्रत्येक प्रसंग को जीव की ब्रह्मोन्मुखी साधना प्रमाणित नहीं कर सकते। वह चाहें भी तो पार्थिव तत्त्वों, गन्दगी, धूल, अपूर्णता, अतृप्ति, स्त्री के हृदय, मनुष्य के प्रेम, ऐन्द्रिय सुख, को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। विनयकुमार सरकार के मत से "ऐन्द्रिक भावना का मानवीय सम्बन्धों के बीच इतना सुन्दर सम्मिश्रण और इतने ऊँचे स्तर का चित्रण भारतीय साहित्य में विद्यापति के अलावा और किसी ने प्रस्तुत नहीं किया है।"[१]

इस प्रकार हमने देखा कि ग्रियर्सन, जनार्दन मिश्र, कुमारस्वामी जैसे विद्वान विद्यापति के राधाकृष्ण प्रेम-वर्णन को रहस्यवादी बताते हैं जबकि विनयकुमार सरकार और बहुत से दूसरे लोग इसे नितान्त शृंगारिक, सौ फीसदी शृंगारिक कहते है। जनार्दन मिश्र ने विद्यापति के रहस्यवादी होने का एक कारण यह भी बताया है कि उस समय रहस्यवादी धारा

1. Love in Hindu literature–Page 20-21

की प्रधानता थी, विद्यापति इससे बच न सके और उसमें बह गये। रहस्यवादी धारा से उनका तात्पर्य क्या है यह तो स्पष्ट नहीं हो सका। किन्तु तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों का अध्ययन करनेवाला उनके संकेत को अवश्य ही समझ सकता है। रहस्यवादी साहित्य जो विद्यापति के समय में या उनके पूर्व लिखा जा रहा था वह या तो सिद्ध साहित्य था या परवर्ती सूफी साहित्य। रहस्यवादी प्रवृत्ति अपने शुद्ध रूप मे सिद्ध-साहित्य में नहीं दिखाई पड़ती, फिर भी सिद्ध साहित्य के अन्तर्गत रहस्यवादी प्रवृत्ति का एक रूप है अवश्य। सिद्धों का रहस्यवाद आधुनिक रहस्यवाद से थोड़ा भिन्न है। भिन्न इस अर्थ में कि आधुनिक रहस्यवाद न तो दार्शनिक शब्दों या साम्प्रदायिक नियमों से आक्रान्त है और न तो इसमें पुरान मध्यकालीन रहस्यवादी सिद्धों की तरह गुह्य-साधना का घटाटोप है। फिर भी पुराने सिद्धों की रहस्यावादी भावना पर विचार करने पर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि विद्यापति पर इनका प्रभाव कम से कम दिखाई पड़ता है।

डा० सुभद्र झा ने ग्रियर्सन आदि के मत का विरोध करते हुए लिखा है कि "भारतीय प्रतीकवादी (रहस्यवादी) कवियों की कविताओं में जैसे जायसी या कबीर के काव्य में, जीवात्मा को परमात्मा से मिलने के लिए प्रयत्नशील दिखाया जाता है। परमात्मा एक स्वतः परिपूर्ण सत्ता होने के कारण निरपेक्ष है और वह न तो जीवात्मा से मिलने के लिए इच्छुक होता है और न तो कोई आह्वान करता है। कबीर का 'सांई' या जायसी की 'पद्मावती' जो ब्रह्म के प्रतीक हैं, 'बहुरिया' या 'रत्नसेन' के लिए आकांक्षा व्यक्त नहीं करते।"[1] मैं विद्यापति को रहस्यवादी कवि नहीं मानता, पर ग्रियर्सन आदि की स्थापना के विरोध में उपर्युक्त मत बहुत सबल नहीं प्रतीत होता। अगर प्रतीक की दृष्टि से कथा के व्यापक प्रसंगों का ब्योरेवार अर्थ बिठलाया जाने लगे तो कबीर का साईं जाने कितनी बार कबीर पर रंग डालता है—

1. Songs of Vidyapati, by Dr. Subhadra Jha, Page 183

सतगुरु हो महराज साईं मों पर रंग डारा

यही नहीं 'राजा राम भरतार' कबीर के घर आते हैं और वे सखियों से मंगल-गान गाने की प्रार्थना करते हैं। उसी प्रकार जायसी की पद्मावती रत्नसेन के कैद हो जाने पर उसे छुड़ाने के लिए न केवल प्रयत्न करती है बल्कि उसकी मृत्यु के बाद चिता में जलकर अपने शरीर को क्षार भी कर देती है। इसलिए राधा और कृष्ण के उभयपक्षी सक्रिय प्रेम को डा० झा के तर्क के आधार पर अ-रहस्यवादी सिद्ध करना कठिन है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निर्गुण सन्तों के प्रेम के विषय में ठीक ही लिखा है कि 'भक्त का भगवान के साथ एक व्यक्तिगत सम्बन्ध है। भगवान या ईश्वर कोई शक्ति या सत्तामात्र नहीं है बल्कि एक सर्वशक्तिमान् व्यक्ति है जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है, उद्धार कर सकता है, अवतार ले सकता है।'[1] इसलिए विद्यापति के कृष्ण यदि राधा के रूप से आकृष्ट हैं, या उससे प्रेम करते हैं या उसके प्रेम का प्रतिदान देते हैं, तो इससे उनके सर्वशक्तिमान ईश्वर रूप में कोई त्रुटि नही आती।

विद्यापति पर रहस्यवाद का प्रभाव, खास तौर से सिद्ध सूफी रहस्यवाद का प्रभाव, नही दिखाई पड़ता। क्योंकि सिद्ध और सूफी दोनों ही जिन प्रतीकों का प्रयोग करते हैं, वे विद्यापति में नहीं पाये जाते। विद्यापति मे न तो सिद्धों की सहज समाधि है, न षट्चक्र, न कुंडलिनी, न हठयोग और न तो मन के भीतर ही साधना द्वारा आत्मलय होने की प्रक्रिया। विद्यापति न माया की बात करते हैं, न ब्रह्म की और न तो किसी सद्गुरु की शरण मे जाने का उपदेश देते हैं। उन्हें 'सबद' की चोट नही लगती और न तो अनाहत नाद का आकर्षण खींचता है। वे किसी अखण्ड नाद को जो जगत् के अन्तस्तल में निरन्तर गूंजता रहता है, सुनने के लिए कभी दौड़े नही। न उसकी चर्चा की, न तो क्रिया-विशेष से सुषुम्ना के पथ को उन्होंने उन्मुक्त किया और न तो कुंडलिनी

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ८५।

जगाकर ब्रह्मरंध्र में पहुँचाने का प्रयत्न ही किया। न तो उपाधिरहित शब्द के प्रणव तत्त्व की बात करते हैं। न तो अखण्ड सत्ता रूप ब्रह्म के वाचक स्फोट की चर्चा करते हैं। उसी प्रकार उनके यहाँ 'महासुह' का वर्णन नहीं है। न माया का तरुवर है और न पंच विडाल। विद्यापति पर सूफी रहस्यवाद के प्रभाव की बात उठाना भी व्यर्थ है। सूफी धर्म का प्रचार शुरू हो गया था इसमें कोई शक नही, पर मिथिला की तरफ १४वी शताब्दी में इसके प्रचार के संकेत-प्रमाण उपलब्ध नही होते हैं। होते भी हों तो विद्यापति के काव्य में इनका प्रभाव ढूढ़ना अनुचित है। सूफी रहस्यवाद का प्रभाव यदि विद्यापति पर होता तो शक्ति, विष्णु, माधव, राधा, शिव आदि बहुदेवों की स्तुति वे नहीं गाते क्योंकि सूफी धर्म मूलत: एकेश्वरवादी है। सूफीमत बहुत-सी बातों में भारतीय अद्वैत मत से मिलता-जुलता है। यह सत्य है कि सूफी साहित्य में भी प्रेम साधना पर ही जोर दिया गया है। कुछेक विद्वान इसीलिए कभी-कभी रागानुगा कृष्ण-भक्ति को सूफी रहस्यवादी काव्य की प्रेम-पीर वाली प्रवृत्ति का प्रभाव भी मानने लगते हैं। किन्तु विद्यापति के राधा-कृष्ण-प्रेम में सूफी प्रेम-पद्धति से लेशमात्र भी साम्य नहीं है। विद्यापति जैसे ब्राह्मण के संस्कारी चित्त में इस विदेशी पद्धति का प्रभाव पड़ना कठिन था भी। यदि राधाकृष्ण के प्रेम में सूफी मत का प्रभाव ढूंढ़ा जा सकता है तो जयदेव के गीतगोविन्द में तथा अन्य संस्कृत-प्रेम-काव्यो मे भी इसके प्रभाव का अनुमान बिठलाया जा सकता है। राधा-कृष्ण का प्रेम सौ-फीसदी भारतीय है। यह प्रेम रहस्यवादी नहीं है, क्योंकि इसमें न तो गुह्य उपासना है और न तो प्रतीकवाद। राधा जीव का प्रतीक हो सकती है, किन्तु कृष्ण ब्रह्म के प्रतीक नही, वे साक्षात् ईश्वर हैं—इसलिए रत्नसेन और पद्मावतीवाली प्रतीक-पद्धति भी यहाँ बैठती नजर नहीं आती।

विद्यापति के राधा-कृष्ण-प्रेम-प्रसंग में रहस्यवादिता की गन्ध खोजने वाले लोगों की खिल्ली उड़ाते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि

"आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हे चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीतगोविन्द के पदो को आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी। सूर आदि कृष्ण-भक्तों के शृंगारी पदो की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नहीं बाल-लीला के पदो का वे क्या करेंगे। इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओं का कीर्तन कृष्णभक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप में लीलाएँ वर्णित है उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी जाती है। जहाँ वृन्दावन, यमुना, निकुंज, कदंब, सखा, गोपिकाएँ इत्यादि सब नित्यरूप में है, इन लीलाओ का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नही।"[1] शुक्ल जी ने लीलाओं को नित्य माना और यह भी स्वीकार किया कि इनका कीर्तन कृष्ण-भक्ति के प्रसंग में चलता है। पर विद्यापति के पदों में वे भक्ति के तत्त्व का समावेश स्वीकार करना नही चाहते। सूर आदि भक्तों के शृंगारी पद लीला-कीर्तन होने के कारण भक्ति के अन्तर्गत परिगणित हो सकते हैं, तो विद्यापति के शृंगारी पद क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हुए शुक्ल जी ने कहा कि 'विद्यापति शैव थे, उन्होंने इन पदों की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नही। विद्यापति को कृष्ण-भक्तों की परम्परा में नहीं समझना चाहिए।'[2] विद्यापति शैव थे, इसलिए कृष्ण भक्ति के पद नहीं लिख सकते और इसीलिए उनके पदों को शृगार के पद मानना चाहिए, कृष्णभक्ति के नहीं, यह बहुत अच्छा तर्क प्रतीत नहीं होता।

श्री शिवनन्दन ठाकुर और अन्य कई आलोचकों ने यह माना है कि विद्यापति शैव थे। श्री शिवनन्दन ठाकुर ने विद्यापति को शैव प्रमाणित करने के लिए कई तर्क दिये है। अन्त में तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों का सारांश देते हुए उन्होंने लिखा है कि "विद्यापति के समय मे मिथिला

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५७-५८।
२. वही पृ० ५७।

में तान्त्रिक उपासना की प्रबलता थी। विद्यापति के ऊपर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। सम्भव है तब तक विद्यापति अपनी उपासना का रूप स्थिर नही कर पाये थे। तब तक वे शक्ति के उपासक थे, और ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी शक्ति की उपासना करवाते थे। उस समय भारत मे विशिष्टाद्वैत मत का स्पष्ट प्रचार हो रहा था। उसके अनुसार विष्णु-लक्ष्मी, राधा-कृष्ण आदि युगल-मूर्ति की उपासना की धारा बह चली थी, विद्यापति ने जब अपनी उपासना का रूप स्थिर किया और शिव जी को अपना इष्टदेव बनाया तब शाक्त और विशिष्टाद्वैत मतों से प्रभावित होने के कारण शिव जी को अपना इष्टदेव नही रखकर युगल मूर्ति गौरी-शंकर को अपना इष्टदेव बनाया। विद्यापति ने कहा—

लोढ़ब कुसुम तोडब बल पात
पूजब सदाशिव गौरी के सात

इसमें शक नहीं कि विद्यापति ने शिव-गौरी पर कई स्तुतिपरक पद लिखे हैं। प्रसंग वश यहाँ उनके एतत्सम्बन्धी कुछ पदो पर विचार कर लेना चाहिए। इसमें से कुछ पद केवल शंकर की स्तुति के हैं, कुछ अर्धनारीश्वर रूप में शंकर-उमा दोनों के। कुछ पद उमा-शंकर विवाह के प्रसंग के हैं। ऐसे पदों में लेखक ने शंकर में ईश्वरत्व-बुद्धि के साथ ही साथ जन-सामान्य की वैवाहिक रीति-पद्धति का भी समावेश किया है। ऐसे पदों में तत्कालिक मिथिला के विवाहों में होने वाले हास-विनोद आदि के भी सांकेतिक चित्र सामने आते हैं। विवाह के अवसर पर शंकर-पार्वती के विवाह-गीत आज भी पूर्वी प्रदेशों में गाये जाते है। ऐसे समय पर वरपक्ष की कुरूपता और दरिद्रता का झूठा बयान करके एक खास प्रकार का विनोद पैदा करने की परिपाटी चलती है। इस परिपाटी में शकर-पार्वती के विवाह-गीत बहुत फिट बैठते हैं। विनोद मे कन्या के सौभाग्य का वर्णन भी रहता हैं। इसलिए इस प्रकार के माङ्गलिक गीत बहुत प्रचलित रहे है। उदाहरण के लिए विद्यापति का एक छोटा गीत देखिए—

हम नहि आज रहब यहि आगन
जो बुढ़ होएत जमाई, गे माई।
एक त बइर भेल बीध विधाता
दोसर धियाकर बाप,
तेसर बइर भेल नारद बाभन
जे बुढ़ आनल जमाई गे, माई
पहिलुक बाजन डामरु तोरब
दोसरि तोरब मुंड माल
बरद हाँकि बरियात बेलाइब
धिया ले जाएब पराई, गे माई
धोती लोटा पतरा पोथी
एहो सब लेबन्हि छिनाई
जौं किछु बजता नारद बाभन
दाढ़ी धएब घिसिआएब, गे माई
भन विद्यापति सुनु हे मनाइन
दृढ़ करु अपन गेयान
सुभ सुभ कए सिरी गौरी बिआहू
गौरी हर एक समान, गे माई।

कन्या के भविष्य के बारे में माँ की चिन्ता, ईश्वर का फटेहाल दूल्हा बनकर आना, नारद ऋषि की दुरवस्था और व्यंग-विनोद के अन्तराल मे पार्वती कें अशेष मंगल और सौभाग्य की सदिच्छा कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त हुई है।" पं० शिवनन्दन ठाकुर के कथन में कोई तथ्य नही मालूम होता, हाँ एक बात उन्होंने अलबत्ता अनजाने मे स्वीकार कर ली है जो विद्यापति के काव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए जरूरी है, वह यह कि उस समय मिथिला में विशिष्टाद्वैत मत का प्राबल्य था। डा० सुभद्र झा ने लिखा है कि "गौरी-शंकर के विवाह गीत मिथिला में विवाह के अवसर पर गाये जाते हैं। शिवनन्दन ठाकुर विद्यापति को शैव

मानते हैं· इसीलिए उनके द्वारा वर्णित राधा-कृष्ण प्रेम को सामान्य शृंगार-काव्य की कोटि में ही रखना चाहते है। उनका कहना है कि मिथिला में ईश्वर की पूजा पति के रूप में कभी नही होती थी।"[१] डा० सुभद्र झा ने ठाकुर के इस मत को गलत बताया है और उन्होंने विष्णुपुरी की कविताओं का उद्धरण देकर बताया है कि "मिथिला मे प्रेम-भक्ति की कवितायें लिखी गई थी।"[२] खैर, हम यहाँ शिवनन्दन ठाकुर तथा आचार्य शुक्ल के इस तर्क पर विचार करना चाहते हैं कि क्या विद्यापति चूकि शैव थे, इसलिए वे राधा-कृष्ण की प्रेम-भक्ति का काव्य नही लिख सकते थे। शैव और वैष्णव धर्म का वैमनस्य, जैसा उग्र बाद में हुआ, विद्यापति के समय में नहीं था। ईस्वी सन् १००० के आसपास उत्कीर्ण खजुराहो के शिलालेख में भगवान् शिव को एकेश्वर कहा गया है तथा विष्णु, बुद्ध जिन आदि को उन्ही का अवतार कहा गया है।[३] वायुपुराण मे ही शिव और विष्णु के तादात्म्य का विवरण मिलता है—

प्रकाशं चाप्रकाशं च जंगमं स्थावरं च यत्।
विश्वरूपमिदं सर्वं रुद्रनारायणात्मकम्

(२५।२०)

विष्णुपुराण में विष्णु और शिव को एक बताया गया है—

शंकरो भगवान् शौरिर्भूति गौरी द्विजोत्तम
नमो नमो विशेषस्त्वं ब्रह्मात्वंहि पिनाकधृक्

(१।८।२१)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'जो लोग विद्यापति के बारे में कहा करते हैं कि वे शैव थे अतः वैष्णव भक्त नही हो सकते, वे उस काल की मनःस्थिति को नही जानते। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय। गाहड़वाल नरेश अपने को माहेश्वर कहते थे, पर वे

---

१. महाकवि विद्यापति, पृ० १९४।

२. Songs of Vidyapati, by Dr. Subhadra Jha, Page 184-85

३. डा० यदुवंशी का शैवमत पृ० १४१।

लक्ष्मीनारायण की स्तुति भी किया करते थे।'[१] विद्यापति ने एक स्तुति-पद में विष्णु और शिव की समवेत स्तुति की है—

भल हर भल हरि भल तुग्र कला
खन पीत वसन खनहि बघछला
खन पंचानन खन भुजचारि
खन संकर खन देव मुरारि
खन गोकुल भए चराइग्र गाय
खन भिखि मांगिय डमरू बजाय
खन गोविन्द भये लिग्र महादान
खनहि भसम भरि आँख ओ कान
एक सरीर लेल दुइ बास
खन बैकुंठ खनहिं कैलास
भनहि विद्यापति विपरीत बान
ओ नारायण ओ सूलपानि

इस पद में न केवल विद्यापति ने शंकर और विष्णु को एक बताया बल्कि विष्णु-लीलाओं में मुख्य गोकुल में गाय चराना, और गोविन्द के रूप में दधि का महादान लेने वाला बताया है। हरि और शंकर के इसी समवेत रूप को बाद में तुलसीदास ने अपनाया और उसे विस्तृत भूमिका प्रदान की—

रुचिर हरिशंकरी नाम मंत्रावली द्वन्द्व दुख हानि आनन्द खानी
विष्णु शिव लोक सोपान सम सर्वदा वदति तुलसीदास बिसद बानी

शिव और विष्णु की वन्दना के साथ-साथ विद्यापति ने शक्ति या दुर्गा की भी स्तुति के पद लिखे हैं। इसलिए कोई शक्ति या मौलिक बात कहने का इच्छुक आलोचक कहना चाहे तो यह भी कह सकता है कि चूंकि विद्यापति शाक्त थे इसलिए उन्होंने राधा के रूप में आद्याशक्ति की लीलाओं का चित्रण किया है। वस्तुस्थिति को न समझने के कारण इस

---

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३९।

प्रकार के तर्कों के आधार पर किसी कवि के दृष्टिकोण तथा धार्मिक विश्वासों का विवेचन नही किया जा सकता। विद्यापति के समय में मिथिला में क्या सम्पूर्ण उत्तर भारत में शैव, शाक्त और वैष्णव तीनों प्रकार के मतों का काफी प्रचार हो गया था। कामरूप और हिमालय की तराई के हिस्सों में शाक्त-साधना का काफी प्रचार था। इसका प्रभाव विद्यापति पर कितना पड़ा, यह कहना कठिन है किन्तु शक्ति का रूप सदा से भारतीय कवि को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। शक्ति के भी विविध रूप है। राधा स्वयं परमेश्वर की आह्लादिनी शक्ति कही गई है। पुराणों में अनेक स्थलों पर प्रकृति को विष्णु-माया कहा गया है। शक्ति की व्यापकता और सार्वभौमता अक्षुण्य है। राधा-तत्त्व कई दृष्टियो से काश्मीरी शैवदर्शन में व्याख्यात शक्ति-तत्त्व से समानता रखता है। पुराणों मे वर्णित वैष्णव शक्ति-तत्त्व और शैवागमों मे वर्णित शक्ति-तत्त्व मे रूप का अन्तर नही, नाम का अन्तर ही ज्यादा है। विद्यापति ने शक्ति के इसी सार्वभौम रूप की वन्दना की है—

विदिता देवी विदिता हो अविरल केस सोहन्ती
एकानेक सहस को धारिनि, जनि रंगा पुरनन्ती
कज्जल रूप तुअ काली कहिए, उज्ज्वल रूप तुव वानी
रवि मंडल परचंडा कहिए, गंगा कहिए पानी
ब्रह्माधर ब्रह्माणी कहिए, हर घर कहिए गोरी
नारायण घर कमला कहिए, के जान उतपति तोरी
विद्यापति कविवर एह गाओल, जाचक जन के गती
हासिनि देइ पति गरुण नारायण, देवसिंह नरपती

इस प्रकार विद्यापति की शक्ति-वन्दना में मध्यकालीन तान्त्रिक साधना का प्रभाव ढूंढ़ा जाये तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु साधारण तौर से हम इसे एक हिन्दू कवि के चित्त का दुर्गा के प्रति भक्ति-निवेदन ही कहे तो ज्यादा ठीक होगा। इन सभी देवताओं की वन्दना को दृष्टि में रखकर म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री ने कहा था कि विद्यापति वस्तुतः पंचदेवोपासक थे।

कीर्तिलता के बंगीय संस्करण में शास्त्री जी ने उक्त मत प्रस्तुत किया। किन्तु विद्यापति को पंचदेवोपासक मानें या शुद्ध चित्त का एक हिन्दू, यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि उनकी रचनाओं को शृंगारिक मानें या वैष्णव भक्ति-पूर्ण। इस प्रश्न का उत्तर विद्यापति के काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा उनके व्यक्तिगत जीवन की स्थितियों, वातावरण आदि को समझे बिना नहीं दिया जा सकता। धार्मिक वातावरण की चर्चा की गई, विद्यापति के काल में उपर्युक्त सभी धर्म कमोबेश मात्रा में प्रचलित थे। विद्यापति ने प्रत्येक देवी-देवता की वन्दना की। यहाँ तक कि उन्होंने राधा की वन्दना में भी पद लिखे है, जसे—

> देखि देखि राधा रूप अपार
> अपरूप केहि विधि आन मिलाओलि
> खित्ति तल लावनि-सार
> अंगहि अंग अनंग मुरछायत
> हेरए पडए अधीर
> मन्मथ कोटि मथन करु जे जन
> से हेरि महि मध गीर
> कत कत लछमी चरन तल नेओछये
> रंगिनि हेरि विभोरि
> करु अभिलाख मनहि पद पंकज
> अहो निसि कोर अगोरि

इस पद में राधा जगत्धात्री की पीठिका पर आसीन है। उनके रूप के सामने सम्पूर्ण जगत् का सौन्दर्य फीका है। कामदेव को भी अपने रूप से विजित करने वाले कृष्ण इस सौन्दर्य को देखकर संज्ञाहीन हो जाते हैं। सहस्रों लक्ष्मी राधा के चरणों में न्योछावर हैं। राधा का यह देवीसूक्त वाला रूप है जिसके सामने देव-देवता सब तुच्छ और निर्बल है।

कहने वाले कह सकते है कि 'बिहारी सतसई' के लेखक ने भी ग्रन्था-रम्भ में राधा की वन्दना की है, किन्तु उनका काव्य कभी भक्ति काव्य

नही माना गया, फिर विद्यापति का ही क्यों माना जाय ? इसके उत्तर मे एक चलता तर्क यह दिया जा सकता है कि बिहारी की रचना किसी भी परवर्ती वैष्णव भक्त द्वारा कीर्तन का विषय नही मानी गई जबकि विद्यापति की रचनाएँ एक व्यापक क्षेत्र में कीर्तन में गाई जाती थीं। महाप्रभु चैतन्यदेव विद्यापति की रचनाओं को गा कर के मस्त हो जाया करते थे। विद्यापति के परवर्ती, ब्रजबुलि कवि गोविन्ददास ने लिखा है कि विद्यापति का काव्य कितना गौरवपूर्ण है, गोविन्द-गौरि (राधा-कृष्ण) के प्रेम पर लिखे हुए जिनके गीतों ने संसार का हृदय जीत लिया। गौड़ीय वैष्णवों का तो यहाँ तक कहना है कि विद्यापति का जन्म ही इसीलिए हुआ था कि वे चैतन्य महाप्रभु के अवतार के पहले इस पृथ्वी पर आकर राधा-कृष्ण की प्रेम-भक्ति के गान लिखें जिन्हें महाप्रभु कीर्तन मे गायेगे। कृष्णदास ने लिखा है कि चैतन्य महाप्रभु विद्यापति के गीतों को बड़े प्रेम से सुनते थे।

कर्णामृत विद्यापति श्री गीतगोविन्द
दुहे श्लोक गीते प्रभुर कराय आनन्द
(चैतन्य चरितावली ३।५)

वस्तुतः विद्यापति शृंगारिक कवि थे या भक्त इसे समझने के लिए भक्ति-काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि समझना अनिवार्य हो जाता है। हमारे मन, में शृंगार और भक्ति के विषय में कई मिथ्या धारणायें बद्धमूल हो गई हैं। शृंगार भक्ति का विरोधी नहीं है। विद्यापति के काव्य में इस शृंगार का ऐसा रूप क्यों है--इसे हम पूरी पृष्ठभूमि में रखकर देखने पर ही समझ सकते हैं। नखशिख वर्णन केवल शृंगारिक कवियों ने नहीं प्रस्तुत किये हैं। रूप वर्णन की वैष्णव शैली में किन-किन तत्त्वों का समावेश हुआ, यह भी जानना आवश्यक है। रूपासक्ति और रूपोपासना में क्या फर्क है। राधा क्या है—राधा के स्वरूप का विकास किन-किन तत्त्वों के सम्मिश्रण से हुआ ? राधा के किस रूप की विद्यापति स्तुति करते हैं, आदि प्रश्न इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आकलन के बाद ही समाहित हो सकते हैं।

भक्ति काव्यः सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का पुनःपरीक्षण

ईस्वी सन् की सातवी शताब्दी से अद्यतन काल तक अजस्र रूप से प्रवाहित हिन्दी काव्य-धारा में भक्ति का प्रवाह मन्दाकिनी की तरह अपनी शुभ्रता, निष्कलुष तरंगावलि और अनन्त जनता के मन को नैसर्गिक शान्ति प्रदान करने वाली दिव्य जल-धारा की तरह पूजित है। रवि बाबू ने लिखा है कि 'मध्ययुग में हिन्दी के साधक कवियों ने जिस रस-ऐश्वर्य का विकास किया उसमें असामान्य विशिष्टता है। वह विशेषता यह है कि एक साथ कवि की रचना मे उच्चकोटि की साधना और अप्रतिम कवित्व का एकत्रमिश्रित संयोग दिखाई पड़ता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।'[१]

भक्ति काल के इस अप्रतिम और ऐश्वर्यमंडित काव्य को विदेशी प्रभाव की छाया में पला हुआ या ईसाइयत का अनुकरण बताने वाले लोगों पर भारतीय मन का क्षोभ स्वाभाविक था। डा० ग्रियर्सन, वेवर, कैनेडी यहाँ तक कि भारतीय पंडित डा० भांडारकर ने भी यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ईसाई-संसर्ग का परिणाम है। डा० ग्रियर्सन ने नेस्टोरियन ईसाइयों के धर्ममत का भक्ति-आन्दोलन पर प्रभाव दिखाते हुए हिन्दुओं को उनका ऋणी साबित किया।[२] वेवर ने कृष्ण जन्माष्टमी के उत्सव की सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए

१. पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा संपादित सुन्दर ग्रंथावली का प्राक्कथन संवत १९९३।

२. जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी, सन् १९०७ में प्रकाशित, 'हिन्दुओं पर नेष्टोरियन ईसाइयों का ऋण' शीर्षक निबन्ध।

कृष्ण-जन्म की कथा को ईसामसीह की जन्म-कथा से जोड दिया।[1] केनेडी ने 'कृष्ण, ईसाइयत और गूजर' शीर्षक निबंध मे यह बताने का प्रयत्न किया कि गजरो से कृष्ण का सम्बन्ध है और चूकि गूजर सीथियन जाति के है इसलिए उनमे प्रचलित बालकृष्ण की पूजा की प्रेरणा उनके मूल-प्रदेश के किसी धर्ममत से मिली होगी।[2] डा० भाडारकर ने इन्ही सब मतों का जैसे एकत्र संयोग प्रस्तुत करते हुए लिखा कि आभीर ही शायद बाल-देवता की जन्म-कथा तथा उसकी पूजा अपने साथ ले आये। उन्होने भी क्राइष्ट और कृष्ण शब्द के कृष्टधृष्ट साम्य को प्रमाणित करने का घोर प्रयत्न किया और बताया कि नन्द के मन मे यह अज्ञान कि वह कृष्ण के पिता है तथा कस द्वारा निरपराध व्यक्तियो की हत्या क्राइष्ट-जन्म की तत्सबधी घटनाओं से पूर्णतः साम्य रखते है। यह सब कुछ भाडारकर के मत से आभीर अपने साथ भारत में ले आये।[3]

इन मतों को पढ़ने पर किसी भी विवेकवान पुरुष को लगेगा कि इनकी स्थापना के पीछे निश्चित पूर्वाग्रह और न्यस्त-अभिप्राय थे जिनके कारण सत्य को आच्छन्न बनाने में इन विद्वानों ने संकोच नही किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बडे खेद के साथ लिखा है कि 'भारतवर्ष का यह परम अपराध रहा है कि वह परमत सहिष्णु और आश्रित-वत्सल रहा है। दुर्दिन में दुरवस्था की मार से जब एक दल के ईसाई भारत के दक्षिणी हिस्से में शरणापन्न हुए उस समय शरणागत-वत्सल भारत नें उन्हें बिना विचारे आश्रय दिया। उस दिन उसने सोचा भी नहीं था कि इन दुर्गत आश्रितों के सहधर्मी इस मामूली से सूत्र से भारतवर्ष के सारे गौरवों का दावा पेश करने लगेंगे।'[4] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त विद्वानों

---

१. इण्डियन एँन्टिक्वेरी भाग ३-४ में 'कृष्ण-जन्माष्टमी पर लेख।

२. जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९०७ में प्रकाशित 'कृष्ण क्रिश्चियानिटी और गूजर शीर्षक निबन्ध।

३. वैष्णविज्म, शैविज्म एंड अदर माइनर सेक्ट्स, पृ० ३८-३९।

४. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सूर साहित्य की भूमिका, पृ० ७।

की धारणाओं का उचित निरास करते हुए राधा-कृष्ण के विकास का बड़ा सन्तुलित सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक-अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है। इस प्रकार शताब्दियों की उलट-फेर के बाद प्रेम-ज्ञान वात्सल्य-दास्य आदि विविध भावों के मधुर आलंबनपूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण रचित हुए। माधुर्य के अतिरिक्त उद्रेक से प्रेम और भक्ति का प्याला लबालब भर गया। इसी समय ब्रजभाषा का साहित्य बनना शुरू हुआ।'[१]

भक्ति आन्दोलन के विकास के पीछे ईसाइयत के प्रभाव की बात की गई है। उसी प्रकार कुछेक विद्वानों की धारणा है कि यह आन्दोलन मुसलमानों के आक्रमण के कारण इतने आकस्मिक रूप मे दिखाई पड़ा। इस धारणा का भी प्रचार करने मे विदेशी विद्वानों का हाथ रहा है। प्रो० हैवेल ने अपनी पुस्तक 'दि हिस्ट्री आव आर्यन रूल' मे लिखा कि "मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राज-काज से अलग कर दिये गए। इसलिए दुनिया की झंझटो से छुट्टी मिलते ही उनमे धर्म की ओर जो उनके लिए एकमात्र आश्रय-स्थल रह गया था स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ।[२] हिन्दी के भी कुछ इतिहासकारों ने इसी मत को स्वीकार किया है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे भक्ति-आन्दोलन की सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए लिखा है कि 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव-गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।'[३] बहुत से लोग सोचते है कि शुक्ल जी ने भक्ति के विकास का मूल कारण

---

१. सूर साहित्य, संशोधित १९५६, बम्बई, पृ० ११ तथा १९।

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका में डा० द्विवेदी द्वारा उद्धृत, पृ० १५।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा संस्करण, पृ० ६०।

मुसलमानी आक्रमण को बताया, किन्तु ऐसी बात नही है। शुक्ल जी ने भक्ति आन्दोलन के शास्त्रीय और सैद्धान्तिक पक्षो का भी विश्लेषण किया है, उनके निष्कर्ष कितने सही है, यह अलग बात है, इस पर आगे विचार करेंगे। शुक्ल जी ने सिद्धों और योगियो की साहित्य-साधना को 'गुह्य रहस्य और सिद्धि' के नाम से अभिहित किया है और उनके मत से भक्ति के विकास मे इनकी वाणियों से कोई प्रभाव नही पडा। 'प्रभाव यदि पड सकता था तो यही कि जनता सच्चे शुभ कर्मो के मार्ग से तथा भगवद्-भक्ति की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मंत्र, और उपचारो मे जा उलझी।'[१] अतः स्पष्ट है कि शुक्ल जी के मत से ऐसी रचनाओं का भक्ति के विकास मे कुछ महत्त्वपूर्ण योग-दान नही था। भक्ति का सैद्धान्तिक विकास 'ब्रह्म सूत्रो पर, उपनिषदो पर, गीता पर, भाष्यो की जो परम्परा विद्वन्मण्डली के भीतर चल रही थी, उसमे हुआ।'[२] भक्ति के विकास में सहायक तीसरा तत्त्व शुक्ल जी के मत से 'भक्ति का वह सोता है जो दक्षिण की ओर से उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र मे फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।'[३] भक्ति जैसे लोक चित्तोद्भूत और लोकप्रिय मत की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि भाष्य और टीका-ग्रन्थों में ढूढ़ना बहुत उचित नहीं कहा जा सकता क्योकि सभी टीका ग्रन्थ भारतीय मनीषा की मौलिक उद्भावना और जीवन्त बुद्धि का परिचय नहीं देते। शुक्ल जी के प्रथम और तृतीय कारण भी परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। शुक्ल जी ने यह स्वीकार किया है कि दक्षिण में भक्ति विकसित हो रही थी और उसका प्रभाव उत्तर में पडने लगा था। मुसलमानी आक्रमण के कारण भक्ति का उदय नही हुआ, भक्ति का स्वाभाविक विकास इस आक्रमण ने कुछ तीव्र अवश्य कर दिया। क्योंकि

१. वही पृ० ६१।

२. वही, पृ० ६२।

३. वही पृ० ६२।

यदि मुसलमानी आक्रमण के कारण जनता मे दयनीयता का उद्भाव हुआ जिससे भक्ति के विकास में सहायता मिली तो मुसलमानो के आक्रमण से प्रायः सुरक्षित दक्षिण में यह 'भक्ति का सोता' कहाँ से पैदा हो गया जो उत्तर मे प्रभावित होने लगा था।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्ति के विकास की दिशाओं का संकेत देने वाले तत्त्वो का सन्धान करते हुए बताया है[1] कि बौद्धमत का महायान सम्प्रदाय अन्तिम दिनो मे लोकमत के रूप में परिणत होकर हिन्दू धर्म में पूर्णतः घुलमिल गया। पूजा-पद्धति का विकास इसी महायान मत के काल मे होने लगा था। हिन्दी भक्ति साहित्य में जिस प्रकार के अवतार-वाद का वर्णन है, उसका संकेत महायान मत में ही मिल जाता है। सिद्धो और नाथ योगियो की कविताएँ हिन्दी सन्त साहित्य से पूर्णतया संयुक्त है, इस प्रकार सन्त-मत का उद्भव मुसलमानों के आक्रमण के कारण नही, बल्कि अपनी भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास का परिणाम है। इस प्रकार द्विवेदी जी की यह स्थापना है कि अगर इस्लाम नही आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'[2]

वस्तुतः इन सभी प्रकार के वाद-विवादों का मूल कारण है भक्ति-सम्बन्धी प्राचीन साहित्य का अपेक्षाकृत अभाव। हम भक्ति काव्य आन्दो-लन को बहुत प्राचीन मानते हुए भी जयदेव के गीतगोविन्द से प्राचीन कोई साहित्य न पा सकने के कारण अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक ऊहापोह में ही लगे रह जाते है। व्रजभाषा भक्ति साहित्य का आरम्भ सूरदास के साथ मानते है, रामभक्ति काव्य तुलसी के साथ शुरू होता है। प्राचीन संत काव्य ही ले-देकर कुछ पुराना प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था मे मुसलमानी आक्रमण के साथ भक्ति आन्दोलन का

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका का भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास' शीर्षक अध्याय।

२. वही, पृ० २।

आरम्भ मानने वाले लोग इसे 'मुसलमानी जोश' का साहित्य कहकर गोटी बिठा देते है। इस दिशा में एक भ्रान्त धारणा यह भी बद्धमूल हो गई है, जो भक्ति काव्य के सर्वांगीण विश्लेषण मे बाधा पहुँचाती है वह यह कि भक्ति के सगुण और निर्गुण मतवाद परस्पर विरोधी चीजे है। इस प्रकार के विचार वाले आलोचक सगुण काव्य को तो भारतीय परम्परा से सम्बद्ध मानते है और निर्गुण काव्य को विदेशी कह देते है। परिणाम यह होता है कि निर्गुण काव्य को धाराच्युत कर देने पर सगुण भक्ति काव्य को छठी शती मे उत्पन्न मानना पड़ता है और सूर तथा अन्य वैष्णव कवियो के लिए १२वी शती के जयदेव और १४वी के विद्यापति एकमात्र प्रेरणा-केन्द्र बच जाते है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यदेश मे भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात खासतौर से ब्रजभाषा-प्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद माना है।[१] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि 'सोलहवी शताब्दी के पहले भी कृष्ण-काव्य लिखा गया था लेकिन वह सब का सब या तो संस्कृत मे है जैसे जयदेवकृत गीतगोविन्द या अन्य प्रादेशिक भाषाओ मे जैसे मैथिलकोकिलकृत पदावली। ब्रजभाषा में लिखी हुई सोलहवीं शताब्दी से पहले की रचनाएँ उपलब्ध नहीं है।'[२] जाहिर है कि यदि गीतगोविन्द और विद्यापति पदावली के अतिरिक्त भक्ति का परिचय देनेवाली इतर सामग्री मिलती तो इस प्रकार का व्यवधान उपस्थित न होता।

भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि की खोज के लिए हमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं का पर्यवेक्षण करना होगा। भागवत कृष्ण काव्य का उपजीव्य ग्रन्थ माना जाता है। और भी कई पुराणों में कृष्ण के जीवन तथा उनके अलौकिक कार्यों का वर्णन किया गया है। ईस्वी सन् के पूर्व ही कृष्ण वासुदेव भगवान् या परम दैवत् के रूप में पूजित होने लगे थे। संस्कृत साहित्य में कई स्थानों पर कृष्ण की अवतार के रूप

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १५२।

२. नाम महात्म्य, श्री ब्रजांक, अगस्त सन १९४० ब्रजभाषा नामक लेख।

में अभ्यर्थना की गई है। भागवत के अलावा हरिवंश पुराण, नारद पंचरात्र, आदि धार्मिक ग्रन्थो मे कृष्ण-लीला का वर्णन आता है। भास कवि के संस्कृत नाटकों मे जो कुछ विद्वानो की राय मे ईसा पूर्व लिखे गए थे, कई ऐसे है जिनमें कृष्ण के जीवन-चरित्र को नाट्य-वस्तु के रूप मे ग्रहण किया गया है। परवर्ती संस्कृत काव्यों शिशुपाल वध आदि में कृष्ण के जीवन और कार्यों का वर्णन किया गया है। जयदेव का गीत गोविन्द तो कृष्ण भक्ति का अनुपम काव्य ग्रन्थ है ही।

ब्रजभाषा की जननी शौरसेनी अपभ्रंश भाषा में भी कृष्णसम्बन्धी काव्य लिखे गए। आश्चर्य है कि अब तक इन रचनाओ की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट नही हो सका है। अपभ्रंश में कृष्णसम्बन्धी जो कुछ भी साहित्य अवशिष्ट है और जिसका सन्धान हो सका है, वह ब्रज-भाषा के सगुण कृष्ण भक्ति आन्दोलन को समझने मे बहुत सहायक हो सकता है। इनमें सर्वाधिक महत्त्व की रचना पुष्पदन्त कवि का महापुराण है जिसमे कृष्ण-जीवन का विशद् चित्रण किया गया है। इसमें कृष्ण-भक्ति के निश्चित रूप का पता नही चलता। कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित घटनायें नि.सन्देह भागवत् या हरिवंशपुराण के आधार पर ली गई है। गोपियों के साथ कृष्ण का विहार, (उत्तर पुराण पृ० ६४।६५) पूतना लीला (उ० पुराण ६) ओखल बन्धन, गोवर्धन-धारण (उ० पु० १६) कालिय-दमन आदि की घटनायें भागवत की कथा से पूर्ण साम्य रखती है। पुष्पदन्त ने कृष्ण के लिए जिन सम्बोधनों का प्रयोग किया है उनमे गोपाल, मुरारि, मधुसूदन, हरि, प्रभु आदि शब्द आते है। रास के वर्णन में पुष्पदन्त ने गोपियों की उत्सुकता, प्रेम विह्वलता और असामान्य व्यवहारो का वैसा ही जिक्र किया है जैसा भागवत मे है अथवा परवर्ती विद्यापति या सूरदास आदि मे। कोई-कोई आधे विलोए दही को वैसे ही छोड़ कर भागीं, किसी की मथानी टूट गई। कोई कहती है कि तुमने मथानी तोड़ दी, इसका दाम चुकाओ एक आलिगन देकर। कही गोपी की पाण्डुर रंग की चोली कृष्ण की छाया

से काली हो जाती है, इस प्रकार धूलिधूसर कृष्ण उन गोपियो को क्रीडा-रस से वशीभूत कर लेते हैं—

धूली धूसरेण वर मुवक सरेण तिणा मुरारिणा
कीला रस वसेण गोवालय गोवी हियय हारिणा
मंदीरउ तोडिवि आवट्टिउं, अद्धविरोलिउं दह्निउं पलोट्टिउं
कावि गोवी गोविन्दहु लग्गी, एण महारी मंथानि भग्गी
एयहि मोल्लु देहु आलिंगणु, णं तो मा मेल्लहु मे अंगणु
काहि वि गोविहि पडरु चेलउं, हरि तणु तेइ जायउं कालइउं

(उत्तर पुराण पृ० ६४)

भागवत से अत्यन्त प्रभावित होते हुए भी पुष्पदत की कथा मे कृष्ण भक्ति का स्फुट स्वरूप नही दिखाई पड़ता, फिर भी रास क्रीड़ा आदि के वर्णन यह तो प्रमाणित करते ही हैं कि कृष्ण के रास का महत्व १०वी शती के एक जैन कवि के निकट भी कम नही था। यह याद रखना चाहिए कि पुष्पदत का यह वर्णन गीतगोविन्द से दो सौ वर्ष पहले का है। बाद मे भी कई जैन कवियो ने कृष्ण सम्बन्धी काव्य लिखे परन्तु कृष्ण को भगवान् के रूप मे चित्रित नही किया गया। वे एक महाप्राणवान पुरुष के रूप मे ही चित्रित हुए। प्रद्युम्न चरित काव्यो मे तो उनकी कही-कही दुर्गति भी दिखाई गई है।

१२वी शताब्दी में हेमचन्द्र के द्वारा सकलित अपभ्रश के दोहों मे दो ऐसे दोहे हैं जिनमें कृष्णसंबंधी चर्चा है। एक में तो स्पष्ट रूप से कृष्ण और राधा के प्रेम की चर्चा की गई है। मेरा ख्याल है कि ये दोहे एत-त्सबंधी किसी पूर्ण काव्य ग्रंथ के अंश हैं। दोहे इस प्रकार है—

हरि नच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ
एम्बहि राह पओहरह जं भावइ तं होउ

हरि को प्रांगण मे नचाने वाले तथा लोगों को विस्मय में डाल देने वाले राधा के पयोधरो को जो भावे सो हो। संभवतः यह किसी हास्य प्रगल्भा सखी के वचन राधा के प्रति कहे गए है। इस पद मे राधा कृष्ण के प्रेम

का संकेत तो मिलता है, किन्तु इस प्रेम को भक्ति-संयुक्त मानने का कोई स्पष्ट संकेत नही मिलता। दूसरा दोहा अवश्य ही स्तुतिमूलक है—

मइं भणियउं बलिराय तुहु केहउ मग्गण एहु
जेहु तेहु न वि होइ बढ सइं नारायण एहु

इस पद्य में नारायण और बलि की कथा का संकेत मिलता है, इसमे भी हम बहुत अंशो तक भक्ति के मूल भावो का निर्दशन नही पाते। फिर भी ये दोहे आरम्भिक ब्रजभाषा के अज्ञात कृष्णकाव्यो की सूचना तो देते ही हैं। इस तरह का न जाने कितना विपुल साहित्य रहा होगा जो दुर्भाग्यवश आज प्राप्त नही होता। प्रबन्धचिन्तामणि में भी एक दोहा ऐसा आता है जिसमे राजा बलि की कथा को लक्ष्य करके एक अन्योक्ति कही गई है—

अम्मणिओ संदेसडो तारय कन्ह कहिज्ज
जग दालिद्दिहिं डुब्बिउ वलिवधंणह मुहिज्ज

मेरा संदेशा उस तारक कृष्ण से कहना कि संसार दारिद्रय में डूब रहा है अब तो बलि को बन्धन-मुक्त कर दीजिए। इस दोहे का 'तारअ' शब्द महत्वपूर्ण है। उद्धारक या तारक विशेषण से कृष्ण के प्रति परमात्म बुद्धि का पता चलता है।

कृष्ण-भक्तिकाव्य का वास्तविक रूप पिगल ब्रजभाषा मे चौदहवी शती के आस-पास निर्मित होने लगा था। प्राकृत पैंगलम् का रचनाकाल १४वी शती के आसपास माना जाता है। यह एक सकलन ग्रथ है जिसमें १४वीं शती तक के पिंगल ब्रजभाषा के काव्यों में छन्दों के उदाहरण छाँटे गए थे। इसमे कृष्णभक्ति सम्बन्धी कई पद्य संगृहीत है। कृष्ण के अलावा शंकर, विष्णु आदि से स्तुति के भी कई पद दिखाई पड़ते हैं। एक पद मे दशतावतार का वर्णन भी मिलता है। इन पद्यों का विश्लेषण करने पर भक्ति के कई तत्वों का संधान मिलता है। प्रेम-भक्ति का बड़ा ही मधुर और मार्मिक चित्रण हुआ है। स्तुतिपरक पद्यो में भी आत्मनिवेदन तथा

प्रणति का रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शिव सम्बन्धी स्तुति मे शंकर के रूप का चित्रण देखिए—

जसु कर फणवइ वलय तरुणि वर तणुमंह विलसइ
नयन अनल गल गरल विमल ससहर सिर णिवसइ
सुरसरि सिर मह रहइ सयल जण दुरित वमण कर
हसि ससिहर हरउ दुरित वितरहु अतुल अभय वर
(१९०।१११)

रामसम्बन्धी स्तुति का एक पद—

वघउ उक्कि सिरे जिणि जिज्जिउ तेज्जिय रज्ज वणंत चले विणु
सोहर सुदरि संगहि लग्गिय मारु विराध कबध तहाँ हणु
मारुइ मिल्लिय वालि विहंडिय रज्ज सुगीवह दिज्ज अकंटक
वंध समुद्द विणासिय रावण सो तुव राहव दिज्जउ निब्भय

स्तुतिपरक पद्यों में राम, शिव या कृष्ण की वन्दना परमात्मा के रूप में की गई है और वे दीनों पर कृपा करनेवाले तथा अभय देने वाले इष्टदेव के रूप मे चित्रित किए गए है किन्तु सर्वाधिक महत्व के कृष्णसम्बन्धी वे पद्य हैं जिनमें कृष्ण को परमात्मा के रूप में मानते हुए भी गोपी या राधा के साथ उनके प्रेम का वर्णन किया गया है। ऐसे पद्यों मे कवि ने बड़े कौशल से लौकिक प्रेम का पूरा रूप प्रस्तुत करते हुए भी उसमे चिन्मय सत्ता का आरोप किया है। सूरदास की कविता में गोपियो के सामान्य लौकिक प्रेम के धरातल से चिदोन्मुख प्रेम का जैसा उन्नत रूप उपस्थित किया गया है, वैसा ही चित्रण इन पदों में मिलताहै। इनमें से कई पद्य जयदेव के गीतगोविन्द के श्लोकों से भाव-साम्य रखते है।[1]

---

१. जयदेव के गीतगोविन्द के तीन-चार श्लोक प्राकृत पैंगलम के कुछ पदों से अद्‌भुत साम्य रखते हैं। वेदानुद्धरते'-वाला श्लोक जिण वेअ धरिज्जे, महियल लि ज्जे' वाले पद से अक्षरशः मिलता है। उसी प्रकार जं फुल्लक फुल वण' वाला (प्राकृत पैंगलम्) पद भी एक श्लोक से पूर्णतः साम्य रखता है। इस विषय में विस्तार के साथ 'सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध में विचार किया गया है।

नदी पार करते समय कृष्ण अपनी चंचलता के कारण नाव को हिला डुलाकर गोपी को भयभीत करना चाहते हैं। कृष्ण के ऐसे कार्यों के पीछे छिपे मन्तव्य को पहचान कर भय का बहाना बताती हुई प्रेमविह्वला गोपी कहती है—

अरे रे वाहहि काण्ह णाव छोडि डगमग कुगति ण देहि
तइ इत्थि णइहि संतार देइ जो चाहइ सो लेहि
(१२।९)

यह स्वतंत्र मुक्तक पद भी हो सकता है किन्तु संदर्भ को देखते हुए लगता है की नौका-लीला-सम्बन्धी किसी बड़ी कविता का एक स्फुट पद्य है। एक दूसरे पद्य में कृष्ण के जीवन की विविध लीलाओं का सकेत करते हुए उनकी स्तुति की गई है। यह पद्य वैसे मूलत. स्तुतिपरक नही है। किन्तु एक पक्ति में कृष्ण और राधा के प्रेम-सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। कृष्ण को नारायण के रूप मे स्मरण करते हुए भी कवि ने उनके राधा-प्रेम का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमे प्रेम-भक्ति के भी तत्व दिखाई पड़ते है। मधुर भाव की भक्ति का यह संकेत ऐतिहासिक महत्व रखता है। राधा तत्व के क्रमिक विकास का अत्यन्त वैज्ञानिक और व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डा० शशिभूषण दास गुप्त ने लिखा है कि 'संस्कृत और प्राकृत वैष्णव कविता के बाद पहले पहल देश भाषा में ही राधा-कृष्ण की प्रेम-सम्बन्धी वैष्णव पदावली पन्द्रहवी सदी के मैथिल कवि विद्यापति और बंगला के कवि चण्डीदास की रचनाओ मे पाते है।'[1] प्राकृत काव्य से डा० दासगुप्त का मतलब गाथासप्तसती आदि मे पाये जाने वाले उन श्रृंगारिक प्रसंगों से है जिसका सम्बन्ध वे राधाकृष्ण प्रेम से अनुमानित करते है।'[2] उन्होने इसी प्रसंग मे प्राकृत पैंगलम् की एक गाथा भी उद्धृत की है जिसके बारे मे उन्होने लिखा है कि 'परवर्ती काल मे (गाथा सप्तसती से) संगृहीत प्राकृत पिगल नामक छद के ग्रंथ मे जो प्राकृत गाथायें उद्धृत मिलती है

१. राधाका क्रमविकास, हिन्दी संस्करण सन् १९५६ काशी, पृ० २७६-७७।
२. देखिये, वही पुस्तक, पृ० १४९।

उसके कितने ही श्लोकों और परवर्ती काल की वैष्णव कविता के वर्णन और स्वर में समानता लक्षणीय है जैसे—

फुल्ला णीवा भम भमरा दिट्ठा मेहा जले सामला
णच्चे विज्जु पिय सहिया, आवे कंता कहु कहिया।[१]
(वर्णवृत्त ८१)

जाहिर है कि डा० दासगुप्त ने इस ग्रंथ को अत्यन्त शीघ्रता से देखा अन्यथा उन्हें परवर्ती वैष्णव पदावली से प्राकृत पैंगलम् के कुछ छन्दो की शैली का साम्य दिखाने के लिए उपर्युक्त प्रकृत-वर्णन सम्बन्धी सामान्य वर्णन से संतोष न करना पडता। प्राकृत पैंगलम् मे कृष्ण राधा के प्रेमसम्बन्धी कई अत्यन्त उच्चकोटि की कवितायें सकलित हैं। एक छन्द ऊपर दे चुके हैं, दूसरा इस प्रकार है :—

जिणि कंस विणासिअ किति पयासिअ
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे गिरि हत्थ धरे
जमलज्जुण भंजिय पय भर गंजिय
कालिय कुल सहार करे जस भुवण भरे
चाणूर विहंडिअ, णिय कुल मंडिअ
राहा मुह महु पान करे जिमि भमर वरे
सो तुम्ह णरायण विप्प परायण
चित्तह चिंतिय देउ वरा, भयभीअ हरा
(३२४।२०७)

स्पष्ट है कि इस पद में नारायण के रूप में कृष्ण को परम दैवत या परमात्मा बुद्धि से स्मरण किया गया है। ऐसे परमात्मा का राधा के मुख-मधु का भ्रमर की तरह पान करने का वर्णन इस बात का संकेत है कि १४वी शताब्दी के पहले यानी विद्यापति और चण्डीदास के पूर्व देशी भाषाओं में मधुर भाव की भक्ति का कोई न कोई रूप अवश्य ही प्रचलित था।

१. वही, पृ० १५७।

इस ग्रंथ में पाये जाने वाले अन्य कृष्णस्तुतिपरक पद्यों को उद्धृत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

१—परिणअ ससिहर वअणं विमल कमल दल नयणं
विहिअ असुर कुल दलणं पणयह सिरि महु महणं
(४२१।१०६)

२—भुवण अणंदो तिहुअण कंदो
भवर सवण्णो स जअइ कण्हो
(३६५।४६)

प्राकृत पैंगलम् में एक पद्य ऐसा भी प्राप्त होता है जिसमे शंकर और कृष्ण की साथ-साथ स्तुति की गई है। हांलाकि शिव और कृष्ण की युग्म-भाव की स्थिति का या सम-भाव की स्थिति का यह चित्रण नही है जैसा विद्यापति के एक पद मे मिलता है, जिसमे शिव और कृष्ण को एक ही ईश के दो रूप कहा गया है, फिर भी एक ही श्लोक मे दोनो देवताओ की उपासना का महत्व है।

जअइ जअइ हर वलइअ विसहर
तिलइअ सुन्दर चंद मुनि आणंद जन कंद
वसह गमन कर तिसुल डमरु धर
णयणहिं डाहु अंगण सिर गंग गौरि अधंग
जयइ जयइ हरि भुअ जुअ धरु गिरि
दहमुह कंस विणासा, पिय वासा सुन्दर हासा
बलि छलि महि हरु असुर विलय करु
मुणि जण मानस सुह भासा, उत्तम वंसा
(५६८।२१५)

नवी-दसवी शताब्दी मे शैव और वैष्णव दोनों ही मतों में बहुत से तत्व एक दूसरे में घुल-मिल गए थे। यह सत्य है कि भारतीय इतिहास का उस काल मे तथा उसके कुछ बाद तक शैवो और वैष्णवो में बहुत भयंकर कलह हुआ। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'समूचा उत्तर-भारत प्रधान रूप से स्मार्त था, शिव के प्रति उसकी अखंड भक्ति बनी हुई

थी, किन्तु उसमें अपूर्व सहनशीलता का विकास हुआ था और विष्णु को भी वह उतना ही महत्वपूर्ण देवता मानता था। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय।[1] विद्वानो की धारणा है कि शैवो और वष्णवो का कलह गोस्वामी तुलसीदास के काल तक किसी न किसी रूप मे चलता रहा इसीलिए उन्होंने शैव और वैष्णव मतों के समन्वय की बहुत कोशिश की। सेनवंशीय विजयसेन ने प्रद्युम्नेश्वर का मंदिर बनवाया था जिसके एक लेख मे शंकर और विष्णु की मिश्र मूर्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है।

लक्ष्मीवल्लभ—शैलजादयितयोरद्वैतलीला गृहं
प्रद्युम्नेश्वरशब्दलाञ्छनमधिष्ठानं नमस्कुर्महे

इस प्रकार हम यह कह सकते है कि शैव और वैष्णव मतो में समन्वय का प्रयत्न सेनवंशीय राजाओ के काल में ही आरम्भ हो गया था। प्राकृत-पैंगलम् के पद्य में यद्यपि इस श्लोक में वर्णित शिव और विष्णु की मिश्र-मूर्ति का वर्णन नही किया गया है और न तो विद्यापति की तरह :

धन हरि धन हर धन तव कला
खन पीत वसन खनहिं वघछला-

वाली मूलतः एक किन्तु प्रतिक्षण दोनों ही रूपो में दिखाई पड़ने वाली अलौकिक मूर्ति का वर्णन है किन्तु एक ही पद में 'जयति शकर' और 'जयति हरि' कहने वाले लेखक के मन में दोनों के प्रति समान आदर की भावना अवश्य थी ऐता तो मानना ही पड़ेगा। जो लोग विद्यापति के शैव या वैष्णव होने पर विवाद किया करते है, उन्हे इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को दृष्टि मे रखना चाहिए।

कृष्ण-भक्तिसम्बन्धी काव्य का अगला विकास संत कवियो की रचनाओं में हुआ। संत कवि प्रायः निर्गुण मत के माने जाते है इसीलिए उनकी सगुण भावना की कविताओं को भी निर्गुणिया वस्त्र पहनाया जाना हमने आवश्यक मान लिया है। परिणाम यह होता है कि सहज अभिव्यक्तिपूर्ण कविताओं के भीतर रहस्य और गुह्य की प्रवृत्ति का अनावश्यक

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ३९।

अन्वेषण आरम्भ हो जाता है। निर्गुण और सगुण दोनों बिल्कुल भिन्न धारायें मान ली जाती है वस्तुतः ये दोनों मूलतः एक ही प्रकार की साधनायें हैं। जैसा आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है कि 'जहाँ तक ब्रह्म हमारे मन और इन्द्रियों के अनुभव में आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते है, पर यहीं तक इसकी इयत्ता नही है। उसके आगे भी उसकी अनन्त सत्ता है इसके लिए हम कोई शब्द न पाकर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेधवाचक शब्दो का आश्रय लेते हैं।'[१] ब्रह्म की पूर्णता की अनुभूति सगुण मत वालों का भी ध्येय है, किन्तु व्यक्ति इस अनुभूति के लिए जिस साधन का प्रयोग करता है, वही सीमित है, ब्रह्म का दर्शन इसी सीमित क्षेत्र में होने पर सगुण की संज्ञा पाता है। सूरदासादि अष्टछाप के कवियों ने निर्गुण निराकार ब्रह्म मे विश्वास करने वालों की बड़ी कड़ी आलोचना की है। कुछ लोग इस प्रकार के प्रमाणों के आधार पर दोनों मतों को एक दूसरे का द्रोही सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि सूर आदि भक्त कवि ब्रह्म की निराकार स्थिति को अस्वीकार नही करते थे, वे निराकार ब्रह्म की प्राप्ति के ज्ञानमार्गी साधन को ठीक नही मानते थे। श्री मद्भागवत के एक श्लोक मे बताया गया है कि आनन्दस्वरूप ब्रह्म के तीन रूप होते है—ब्रह्म, परमात्मा, और भगवान्। ब्रह्म चिन्मय सत्ता है। जो भक्त ब्रह्म के इस चिन्मय स्वरूप के साक्षात्कार का प्रयत्न करते हैं वे ब्रह्म के एक अंश को जानना चाहते हैं या जान पाते हैं, इस मत के अनुसार केवल ब्रह्मज्ञान स्वरूप ब्रह्म ज्ञाता और ज्ञेय के विभाग से रहित होता है। परमात्मा उसे कहते है जो सम्पूर्ण शक्ति का अधिष्ठाता है। इस रूप के उपासको में शक्ति और शक्तिमान का भेद ज्ञात रहता है। किन्तु तीसरा रूप सर्वशक्तिविशिष्ट भगवान् का है, इसकी सम्पूर्ण शक्तियो का ज्ञान केवल सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त को ही प्राप्त हो सकता है—

---

१. **भक्ति का विकास, सूरदास, विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित, बनारस।**

वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते

इस प्रकार भगवान के प्रेम की प्राप्ति हिन्दी के दोनों सम्प्रदायो, निर्गुण और सगुण मत वाले भक्तों का उद्देश्य रही। भक्त के जीवन की परम साधना है भगवान् की लीला। 'भक्तो' में अपनी उपासना-पद्धति के अनुसार इस लीला के रूप मे भेद हो सकता है। पर सबका लक्ष्य यह लीला ही है। जो निर्गुण भाव से भजन करता है वह भी भगवान् की चिन्मय सत्ता में विलीन हो जाने की इच्छा नही रखता बल्कि अनन्त काल तक उसमे रमते रहने की कामना करता है। कबीरदास, दादूदयाल तथा निर्गुण-मतवादियो की नित्यलीला और सूरदास, नन्ददास आदि सगुण मतवादियो की नित्य लीला एक ही जाति की है'[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सगुण और निर्गुण मतो की साम्य-सूचक कुछ और विशेषताओ का भी उल्लेख किया है। दोनो ही मतो मे भगवान् और भक्त को समान बताया गया है अर्थात् प्रेम के क्षेत्र में छोटे-बडे का प्रश्न नही है। प्रेम की महिमा का वर्णन दोनों प्रकार के भक्तों ने समान रूप से किया है। प्रेमोदय के जो क्रम सगुणोपासक भक्तो ने निश्चित किये है वे सभी भक्तों मे समान रूप से समादृत हैं। अन्त मे द्विवेदी जी ने लिखा है 'और भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनमे सगुण और निर्गुण मतवादी भक्त समान है। सभी भक्त अपनी दीनता पर जोर देते हैं, आत्मसमर्पण मे विश्वास रखते हैं और भगवान् की कृपा से ही मुक्ति मिल जाती है, इस बात पर सम्पूर्ण रूप से विश्वास करते हैं।'[2] विद्यापति के कई पदों में भी आत्मग्लानि, दीनता, तथा इष्टदेव के प्रति अनन्य प्रेम का भाव व्यक्त हुआ है।

सगुण और निर्गुण मतों के साम्य की यह किंचित् चर्चा इसलिए करनी पड़ी कि भ्रमवश ऐसा मान लिया गया है कि सूरदास तथा अन्य अष्टछापी कवियों के साहित्य में निर्गुण की जो विडम्बना की गई है वह

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ८८-८६।
२. वही, पृ० ६४।

इस बात का सबूत है कि ये कवि निर्गुण मत के कवियो से प्रभावित नही हुए और उनका भक्ति काव्य बीच के इन सन्त कवियो से सम्बन्धित न होकर जयदेव और विद्यापति से जोड़ा जाना चाहिए। मै यह कदापि नही कहता कि जयदेव और विद्यापति का प्रभाव नही पड़ा, किन्तु सत कवियो ने सगुण मतवादी कृष्ण काव्य के निर्माण मे जो महत्वपूर्ण योग दिया है उसे कभी अस्वीकार नही किया जा सकता। इन कवियो की भक्ति-सम्बन्धी कविताओ की पचीसों बाते सीधे निर्गुण मतवादी कवियों की परम्परा से प्राप्त हुई। नीचे मै केवल कृष्णभक्तिसम्बन्धी कविताओ की ही चर्चा करना चाहता हूँ, दूसरे अन्य साम्यसूचक पक्षो पर काफी विचार होता रहा है।

नामदेव अपने कृष्ण-प्रेम का परिचय देते हुए कहते हैं कि 'कामी पुरुष कामिनी पियारी, ऐसी नामे प्रीति मुरारी।' इस प्रकार प्रेमास्पद को ऐसी अनन्य प्रीति करने वाले नामदेव ही कह सकते थे कि हे माधव मुझसे होड़ न लगाओ, यह स्वामी और जन का खेल है—

बदहु किन होड़ माधव मोसिउ
ठाकुर ते जन जन ते ठाकुर खेल परिउ है तो सिउ[1]

कविता हालां कि निराकार उपासना से ही सम्बन्ध रखती है किन्तु भक्त के मन का यह अटूट विश्वास, स्वामी के प्रति यह अनन्य भक्ति क्या हमे सूर की कही जाने वाली इन पंक्तियो की याद नही दिलाती ?

बाहँ छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहिं
हिरदय तै जब जाहुगे सबल बदौगे तोहि

प्रेम की अनन्तव्यापिनी पीड़ा से जहाँ चित्त आपूरित हो जाता है, वही वेदना की इतनी बड़ी पुकार सुनाई पड़ती है—

मोकउ तू न विसारि तू न विसारि तू न विसारै रमईया[2]

नामदेव के मन में जिसप्रकार की विह्वलता है क्या वैसा ही भाव विद्यापति की निम्न पंक्तियों में नहीं दिखाई पड़ता—

१. श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित सन्तकाव्य संग्रह, पृ० १४९
२. वही, पृ० १५०।

(तोहे जनम पुनि तोहे समाइत
सागरि लहरि समाना
भनइ विद्यापति सेष सयनमय
तुअ विनु गति नहिं आरा
आदि अनादिक नाथ कहाओसि,
अब तारन भार तोहारा)

(विद्यापति को जो लोग मात्र श्रृंगारिक कवि कहते हैं संभवतः ऐसे पदों पर ध्यान देना नही चाहते; किन्तु इन पदों का ऐतिहासिक महत्त्व है। विद्यापति के ये पद न केवल उस समय की भक्ति-पद्धति की एक खास विशेषता की सूचना देते हैं बल्कि इनसे यह भी मालूम होता है कि उनके स्तुतिपरक पद सगुण और निर्गुण दोनो प्रकार के भक्ति-काव्यों की परंपरा में और उन्हे प्रभावित करने वाले है।)

कबीर को अपने गोविन्द पर पूरा विश्वास है पर उन्हें पास जाने में डर लगता है। नाना प्रकार के मतवादो के चक्कर में पड़कर जीव कष्टो की गठरी ही बाँधता रह जाता है। धूप से उत्तप्त होकर किसी तरु-छाया में विश्राम करना चाहे तो तरु से ही ज्वाला निकलने लगती है, इन प्रपंचों को कबीर समझते हैं इसलिए वे विश्वास से कहते हैं, 'मै तो तुझे छोडकर और किसी की शरण में नहीं जाना चाहता—

गोविन्दे तुम पै डरपौ भारी
सरणाई आयो क्यूं गहिए यह कौन बात तुम्हारी
धूप दाझ तैं छाँह तकाई मति तरवर सचु पाऊँ
तरवर मांहे ज्वाला निकसै तो क्या लेइ बुझाऊँ।१।
तारण तरण तरण तारण तू और न दूजा जानौं
कहै कबीर सरनाई आयों आन देव नहि मानौ॥[१]

कबीर के पदों, साखियों तथा अन्य अस्फुट रचनाओं में भगवान् के प्रति उनके अनन्य प्रेम की बड़ी ही सहज और नैसर्गिक अभिव्यक्ति हुई है। मधर भाव का बीजांकुर कबीर की रचनाओ में मिलता है। यह सत्य है

कि ये रचनायें रहस्य की प्रवृत्ति से रंगी हुई है और इनमे निराकार परमात्मा और जीवात्मा के मिलन या वियोग के सुखदु ख का चित्रण है किन्तु भाव की गहराई और प्रेम की व्यंजना का यह रूप सगुण मत के कवियों को अवश्य ही प्रभावित किये होगा क्योंकि उनकी रचनाओं में इसी भाव की समानान्तर पक्तियाँ मिल जाती है।

नैना अंतर आव तू ज्यू हौ नैन झपेउं
ना हौ देखों और कू ना तुझ देखन देउं
(कबीर)

इसी प्रकार की पंक्तियाँ मीरां के एक पद में भी आती है। प्रेम की वेदना से तप्त जलहीन मीन की तरह यह आत्मा व्याकुल है। विरह का भुजंग इस शरीर को अपनी गुजलक मे लपेटे है, राम का वियोगी कभी जीवित नही रह सकता—

विरह भुवंगम तन वसै मंत्र न लागै कोइ
राम वियोगी ना जिवै जिवै त बौरा होइ
(मीरां)

तुम बिनु व्याकुल केसवा नैन रहे जल पूरि
अन्तरजामी छिप रहै तुम क्यों जीवें दूरि
आप अपरछन होइ रहै यह क्यों रैन विहाइ
दादू दरसन कारने तलफि तलफि जिय जाइ
(दादू)

तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान
छटि गए कैसे जन-जीवत ज्यो पानी मिनु प्रान
(सूरदास)

रैदास मोह-पाश मे बाँधने वाले ईश्वर को चुनौती देते हुए कहते है कि तुम्हारे बन्धन से तो हम तुम्हीं को याद करके छूट जायेंगे किन्तु माधव हमारे प्रेम-बंधन से तुम कभी न छूट सकोगे—

जउ हम बांधे मोह फास हम प्रेम बधनि तुम बांधे
अपने छटन को जतन करहु हम छूटे तुम आरावें
माधवे जानत हहु जैसी तैसी । अब कहा करहुगे ऐसी ।।

रैदास उस अनन्त सौन्दर्य-र्मात पर निछावर है। यदि उनका प्रिय विशाल गिरिवर है तो वे उसके अन्तराल मे निवास करने वाले मयूर हैं, यदि वह चॉद तो ये चकोर। रैदास कहते है कि माधव, यदि तुम प्रेम के इस बन्धन को तोड़ भी दो तो हम कैसे तोड़ सकते ह, तुमसे तोडकर और किससे जोड़े—

जउ तुव गिरिवर तउ हम मोरा, जउ तुव चद तउ हम भये है चकोरा
माधवे तुम तोरहु तउ हम नाहि तोरहि ।
तुम सिउ तोरि कउन सिउ जोरहि ।।

रैदास की इस प्रकार की कविताओ मे प्रेम की जिस सहज अनुभति और पीडा की विवृति हुई है क्या वह परवर्ती काल मे सूर की विरहिणी गोपियो की अनुभूतियों से मेल नही खाती ? सूर की गोपियां भी इस प्रकार की परिस्थिति म यही कहती हैं :

तिनका तोर करहु जनि हमसो एक वास की लाज निवाहियो
तुम विनु प्रान कहा हम करिहै यह अवलंब न सुपनेह लहियो

(कृष्ण भक्ति काव्य के विकास मे संगीतकार कवियों ने भी कम योग नही दिया। सगीतज्ञ कवियो ने न केवल अपनी स्वर-साधना से भाषा को परिष्कार और मधुर अभिव्यजना प्रदान की, उन्होने न केवल अप्रतिम नाद-सौन्दर्य से कविता को अधिक दीर्घायुष बनाया बल्कि अपनी सम्पूर्णप्रतिभा को आराध्य कृष्ण के चरणो मे लुटा भी दिया। इसी कारण संगीतज्ञ कवियो के पद गेयता के लिए जितने लोकप्रिय हुए उतने ही उनमे निहित भक्ति के लिए भी। गोपाल नायक और बैजूबावरा के पदों में आत्म-निवेदन, गोपीप्रेम तथा भक्ति के विविध पक्षो का बड़ा ही विशद और मार्मिक चित्रण हुआ है। गोपाल नायक की बहुत कम रचनाये प्राप्त हुई है। अपने एक पद में वे रास का चित्रण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

काधे कामरी गो अलाप के नाचे जमुना तीर नाचे जमुना तीर
पीछे रे पॉव रे लेति नाचि लोई मागवा।
भुअ आली मृदंग बाँसुरी बजावै गोपाल बैन बतरस ले अनंद
ले मुराद मालवा।

(राग कल्पद्रुम से)

बैजू की कवितायें कृष्ण-लीला के प्राय. सभी पक्षों को दृष्टि मे रखकर लिखी गई हैं। नटवर का रूप-मोहिनी, गोपी-प्रेम, विरह, रास, मान, ननुहार आदि सभी पक्षों पर लिखी गई इन कविताओं में कवित्व शक्ति का बहुत अच्छा प्रस्फुटन दिखाई पडता है। विरह के वर्णन में बैजू ने उद्दीपनो तथा अन्य कवि परिपाटी विहित उपकरणो का प्रयोग नही किया है, बडी सहज और निरंलकृत भाषा में उन्होंने प्रिय-वियोग की वेदना को व्यक्त किया है—

प्यारे बिनु भर आए दोउ नैन
जबते स्याम गवन कीयो गोकुल तव तें नाही परत री चैन
लगे न भूख न प्यास न निद्रा मुख आवत नहिं बैन
बैजू प्रभु कोई आन मिलावै बाकी बलिहारी दिवस रैन

इस प्रकार हमने देखा कि कृष्णभक्ति का साहित्य कई स्रोतो से विकसित होता हुआ हिन्दी वैष्णव कवियों को प्राप्त हुआ। विद्यापति तथा अन्य वैष्णव कवियों के भक्ति साहित्य का अध्ययन करने तथा उसके तत्वो की सही व्याख्या करने के इच्छुक लोगों को इस पृष्ठभूमि का परीक्षण करना चाहिए। सगुण और निर्गुण का इतना बड़ा विभेद जैसा कि आजकल माना जाता है, हमे इन कवियों के काव्य का सही मूल्याकन करने मे बाधा पहुँचायेगा। विद्यापति के काव्य के विषय में प्रायः यह शंकायें की जाती हैं कि यह रहस्यवादी भक्ति काव्य है, या केवल शृंगारप्रधान प्रेमकाव्य। भक्ति और शृंगार के विषय मे भी हमारे मन में कुछ धारणाएँ बद्धमूल हो गई है। बहुत से लोग विद्यापति आदि के नखशिख वर्णनों को देखकर इतने घबरा जाते है कि उन्हे इन कवियो की भक्ति भावना पर ही

अविश्वास होने लगता है। प्रत्येक महाकवि अपनी परम्परा का परिणाम होता है। यह सच है कि जीवत कवि पुरानी रूढ़ियो को तोडकर नई भावधारा की सृष्टि करता है और पुराने प्रथा-प्रथित वर्णनो की शृखला का विच्छेद करके नये उपमान-मुहावरे, प्रतीको का निर्माण करता है किन्तु कोई अपनी परम्परा से एकदम विच्छिन्न कभी हो ही नही सकता। विद्यापति के काव्य को समझने के लिए तत्कालीन काव्य की मर्यादाओं को, नियमावलियो को तथा कविजनोचित उस परम्परा को समझना होगा जो उन्हे विरासत के रूप में मिली थी।)

निर्गुण काव्य का संबंध जैन मर्मी कवियो से या सिद्धोसे जोड़ा जाता है। इस प्रकार निर्गुण मतवादी प्राचीनता प्रमाणित करने का तो साधन प्राप्त हो जाता है किन्तु जब हम सगुण काव्य को निर्गुण का एक दम विरोधी मान लेते है तो इसका आरंभ १६वी शताब्दी मे मानाना अनिवार्य हो जाता है। यह स्थिति कितनी काल्पनिक है, इसे हमने ऊपर देखा है। यदि अपभ्रश मे प्राप्त होने वाली रचनाओं का सही विवेचन किया जाये तो सगुण काव्य को १०वी शताब्दी से ही आरंभित मानना पड़ेगा। अप-भ्रंश साहित्य की भक्तिपरक रचनाओ की मुख्य विशेषतायें ये है—

(१) राधाकृष्णसम्बन्धी पदों में भक्ति और शृंगार का समन्वय।

(२) स्तुतिपरक रचनाओं का बाहुल्य, इनमें कृष्ण और शिव की स्तुति समवेत रूप में की गई है।

(३) शृंगार का रूप बहुत मुखर है।

(४) निर्गुण मतवाद की सृष्टि करनेवाली रचनाओं में भी आत्मनिवेदन, शरण-प्रणति तथा भक्त के अनन्य प्रेम की सूचना देनेवाली प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।

(५) गोपाल नायक और बैजू बावरा जैसे संगीतज्ञ कवियों के काव्य मे संगीत, प्रेम और भक्ति का समन्वय है जैसा विद्यापति के काव्य में दिखाई पडता है।

शृङ्गार और भक्ति

भक्ति और शृंगार दोनों ही मध्यकालीन साहित्य की अत्यन्त प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। भक्त कवियों के शृंगारिक वर्णनों को लेकर आलोचकों ने बहुत निर्मम आक्षेप किये हैं। आचार्य शुक्ल जैसे अपेक्षाकृत उदार और सिद्ध आलोचक ने भी सूर के बारे मे विचार देते हुए उनके शृंगारिक प्रेम के विषय में यही शिकायत की है। उन्होंने लिखा है कि 'समाज किधर जा रहा है इस बात की परवाह ये नही रखते थे। यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से उन्होने जनता को रसोन्मत्त किया उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखनेवाले विषयवासना पूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर इन्होने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तो ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का विषय बनाया उसको लेकर आगे के कवियो ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया।' शुक्ल जी के इस कथन से दो बाते स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि वे कृष्णभक्ति में शृंगार की अति वर्णना को समाज की दृष्टि से कल्याणकारी नही मानते, दूसरी यह कि रीतिकाल के कामोद्दीपन चित्रणो की अतिशयता का कारण भक्त कवियो के शृंगारिक चित्रणों को ही मानते हैं। इस प्रकार के मत दूसरे कतिपय आलोचको ने भी व्यक्त किये हैं। प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दी साहित्य में, सूरदास के पहले शृगारपूर्ण चित्रणों का अभाव है? क्या भक्त कवियों ने शृगारिक चित्रण की शैली को आकस्मिक रूप से उद्भूत किया, क्या इस प्रकार के वर्णनो की कोई परिपाटी उनके पहले के साहित्य मे नही थी? ऐसे प्रश्नो के उत्तर के

लिए हमे मध्यकालीन संस्कृति, समाज और उसमे प्रचलित विश्वासो का पूर्ण विश्लेषण करना होगा। हमें यह देखना होगा कि श्रृंगार की तत्कालीन कल्पना क्या थी। श्रृगार की मर्यादा क्या थी और उसके किस स्वरूप को समाज मे स्वीकार किया गया। जयदेव जैसे कवि ने श्रृगार और भक्ति को परस्पर समन्वित भावधारा के रूप मे ग्रहण किया। उन्होने स्पष्ट कहा कि यदि 'हरि-स्मरण' मे मन सरस हो और यदि विलास कला मे कुतूहल हो तो जयदेव की मधुर कोमलकान्त पदावली को सुनो

यदि हरि स्मरणे सरस मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्
मधुर-कोमलकान्तपदावली श्रृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्
(गीतगोविन्दम् श्लोक ३)

वह कौन सी सामाजिक परिस्थिति थी जो जयदेव जैसे विख्यात रससिद्ध कवि को यह निःसंकोच कहने को प्रेरित करती थी कि काम-कला और हरि-स्मरण उनकी पदावली में एकत्र सुलभ है। यह केवल जयदेव जैसे कवि के मन की ही बात नही है। काव्य तो व्यक्ति के मन की अभिव्यक्ति है। इसलिए उसमें निहित सत्य को हम वैयक्तिक धारणा भी कह सकते है। उस काल के धार्मिक ग्रंथो में जो भक्ति के नियामक तत्वों का विश्लेषण करते हैं, श्रृंगार और भक्ति की इस समन्वय-धर्मिता के बारे में विशद् रूप से विचार किया गया है। भक्ति की चरमोपलब्धि के लिए साधक को कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती है। भागवत के एक श्लोक में श्रद्धा तथा रति को भक्ति का क्रमिक सोपान बताया गया है—

सता प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवंति हृत्कर्णरसायन्तः कथाः
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति
(भागवत ३।२०।२२)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्त्री पूजा और उसका वैष्णवरूप शीर्षक निबन्ध मे इस विषय पर काफी विस्तार के साथ विचार किया है।[1] उन्होंने लिखा है कि भारतवर्ष में परकीया-प्रेम बहुत पुराने जमाने से एक खास

१. सूरसाहित्य, संशोधित संस्करण १९५६, बम्बई, पृ० २०–६०।

सम्प्रदाय का धर्म-सा था। कहा जाता है कि ऋग्वेद (१०।१२६।२५) से इस परकीया प्रेम का समर्थन होता है। अथर्ववेद (६।५।२७।२८) में उसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (२।१३।१) के 'कांचन परिहरेत्' मन्त्राश का अर्थ आचार्य शकर ने इस प्रकार लिखा है—जो वामदेव सामन् को जानता है उसे मैथुन की विधि का कोई बन्धन नही है—उसका मत है कि किसी स्त्री को मत छोडो। अवश्य ही इस मतवाद को वैदिक युग मे बहुत अच्छा नही समझा जाता होगा।'[1] कथावस्तु जातक (२३।२) और मज्झिम निकाय (भाग १ पृष्ठ १५५) से भी सिद्ध होता है कि बुद्ध काल मे भी यह प्रथा प्रचलित थी। भगवान् बुद्ध ने कई स्थलों पर इसकी निन्दा की है।[2]

बौद्ध धर्म के अन्तिम दिनों मे वज्रयान सम्प्रदाय का बड़ा जोर था उसके प्रभाव से 'पंचमकारसेवन' का बहुत प्रचार हुआ। महासुख की प्राप्ति के लिए त्रिपुर सुन्दरी को पराशक्ति के रूप मे निरतर साथ रखना आवश्यक माना जाने लगा। तत्रवाद मे रति और शृगार की भावना को एक नया स्वरूप और आध्यात्मिकता का रंग मिला। वैष्णव धर्म मे नारी पुरुष की पूरक दिव्य शक्ति के रूप में अवतरित हुई। उज्ज्वल नीलमणि में राधा को कृष्ण की ह्लादिनी शक्तिस्वरूपा बताया गया जिनके सहवास के बिना कृष्ण अपूर्ण रहते है।[3] चैतन्य देव ने परकीया-प्रेम को भक्ति का मुख्य साधन बताया। नारी-पुरुष के सामान्य प्रेम के विविध पक्षो का ज्यों का त्यों भक्ति के विविध पक्षों के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया। कामशास्त्र का भक्ति पर क्या प्रभाव पडा, इस पर हम पहले ही विचार कर चुके है।

यह सैद्धान्तिक पक्ष है। विद्यापति, सूरदास तथा अन्य ब्रजकवियों को इससे वैचारिक प्रेरणा ही मिली। शृंगार के वर्णनो की व्यावहारिक

१. वही, पृ० २३, २४।

२. दि कलकत्ता रिव्यू, जून १९२७ पृ० ३६२–३ तथा मनीन्द्रमोहन बोस का 'पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट, पृ० १०१।

३. उज्ज्वल नीलमणि, कृष्णवल्लभा–५।

प्रेरणा उन्हें गीतगोविन्द तथा प्राचीन भागवतादि संस्कृत ग्रंथो से तो मिली ही, किन्तु सीधा प्रभाव उनके ऊपर प्राचीन ब्रजभाषा के काव्य का पडा इसमें सन्देह नही। प्राचीन ब्रज का मतलब यहाँ प्राकृत-अपभ्रश की परम्परा से है।

ऐतिहासिक शृगारिक रचनाओ का आरम्भ छठवी-सातवी शताब्दी के संस्कृत वाङमय मे दिखाई पड़ता है। ऐसा नही कि इस प्रकार की रचनाये पहले के साहित्य में प्राप्त नही होतीं। वैदिक साहित्य मे भी इस प्रकार की रचनाओं का संकेत मिलता है किन्तु वहाँ मानव मन मे दैवी शक्तियो का आतंक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियो का प्रभाव उग्र रूप में वर्तमान है। संस्कृत काव्य देवताओं के स्तुति गान की वैदिक परम्परा की पृष्ठभूमि मे विकसित हुआ इसलिए उसमे पौराणिकता और नैतिक रूढ़िवादिता की सर्वदा प्रधानता बनी रही। विद्वानो की धारणा है कि लौकिक शृंगारपरक काव्यों का आरम्भ प्राकृत काल से हुआ, खासतौर से चौथी-पाँचवी शताब्दी में विभिन्न जातियों के मिश्रण और उत्तर-पश्चिम से आई हुई विदेशी जातियों की संस्कृति के संपर्क के कारण। हूणो और आभीरों के भारत आगमन के बाद मध्यदेशीय प्राकृत भाषा इनके सम्पर्क और प्रभाव से एक नये रूप में विकसित हुई और इनकी स्वच्छन्द शौर्य और रोमास की प्रवृत्ति ने इस भाषा के साहित्य को भी प्रभावित किया। मध्यकालीन संस्कृति में निजंधरी कथाओं का सहारा लेकर रोमास लिखने की परिपाटी जिसका परम विकास वाणभट्ट में दिखाई पड़ता है—शुद्ध रूप से भारतीय शैली नही कही जा सकती। अपभ्रंश की रचनायें तो इस मध्यकालीन संस्कृत रोमांस की पद्धति से भी भिन्न है क्योंकि इनमें आमुष्मिकता का आतंक बिल्कुल ही नहीं दिखाई पड़ता। हाल की गाथा-सतसई के वर्ण्य-विषय की नवीनता की ओर संकेत करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिकों की रसमयी क्रीडाये, उनका घात-प्रतिघात इस ग्रंथ मे अतिशय जीवित रूप में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनियों की प्रेमगाथाएँ, ग्राम-वधूटियों की शृंगार-

चेष्टायें, चक्की पीसती हुई या पौधो को सींचती हुई सुन्दरियो के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओ का भावोत्तेजन आदि बाते इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट हो जाता है। यहाँ वह एक अभिनव जगत् मे प्रवेश करता है जहाँ आध्यात्मिकता का झमेला नही है। कुश और वेदिका का नाम नही सुनाई देता, स्वर्ग और अपवर्ग की परवाह नहीं की जाती, इतिहास और पुराण की दुहाई नही दी जाती।' द्विवेदी जी ने बड़े सूक्ष्म ढँग से मध्यकालीन शृगार की इस नयी धारा और प्राचीन सस्कृत काव्यों की चेतना का अन्तर स्पष्ट किया है। हाल की गाथासप्तसती को विद्वानों ने लोक-साहित्य की परम्परा का प्रभाव बताया है। वह लोक-साहित्य-परम्परा क्या थी, इसका निर्णय देना कठिन है, किन्तु उस लोक-साहित्य-परम्परा के अग्रिम विकास का विवरण अवश्य दिया जा सकता है क्योंकि वह अपभ्रंश में सुरक्षित है।

हाल की गाथा-सतसई मे ही शृंगार के दोनों पक्षों का जो चित्रण प्रस्तुत किया गया है, वह इतना मार्मिक है कि परवर्ती काल के कवियों ने विद्यापति, सूरदास आदि ने उन अनूठी उक्तियों को बिल्कुल अपना बना लिया। इस तरह के दो एक उदाहरणो को देखने से इस काव्य की चेतना और परवर्ती काव्य को प्रभावित करने की शक्ति का पता चलता है।

परदेशी प्रिय लौटकर आता नही। नायिका उसके प्रेम की अतिशयता के कारण 'प्रिय आज ही गया है, आज ही गया है' ऐसा कहकर जो रेखा खीच देती है उनसे दीवार भर गई किन्तु वह आया नही—

अज्ज गओत्ति अज्ज गओत्ति अज्जं गओति गण्डीए
पढम ब्बिअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहि चितलियो (३।८)

विद्यापति की नायिका तो दिवस की रेखा खीचते-खीचते अपने नाखूनों को ही खो चुकी है किन्तु श्याम मथुरा से लौटने का नाम नही लते—

कत दिन माधव रहब मथुरापुर कवे घुचब विहि बाम।
दिवस लिखि लिखि नखर खोयाओल विछुरल गोकुल नाम

विद्यापति का इसी भाव का एक दूसरा पद देखिये.—

कालिक अवधि करिअ पिय गेल
लिखइते कालि भीति भरि गेल
भले प्रभात कहत सबही
कह कह सजनि कालि कबही

प्रेमचंद संकलित दोहो मे भी एक मे यही भाव व्यक्त किया गया है—

जो मइ दिण्णा दिअहडा दइए पवसेत्तण
ताण गणन्तिएँ अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण

गाथासप्तसती की एक दूसरी गाथा मे नायिका अपने प्रिय के आगमन पर कहती है कि तुम्हारे आने पर सभी प्रकार के मंगल आयोजन करके तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। नयनोत्पल से मैंने पथ प्रकीर्ण किया है और कुचों का कलश बनाकर हृदय के द्वार पर स्थापत कर दिया है—

रत्यापइण्णणा अणुप्पला तुमं सा पड़िच्छये एन्तम
दारणि हियेहि दोहिं वि मंगलकलसेहिव थणेहिं (२।४०)

सूर की गोपी कृष्ण के आने पर अपनी हृदय की कमल-कुटी में आसन ठीक करती है और मंगल-कलश की तरह उसके स्तन चोली के बन्धन तोडकर स्वय ही प्रकट हो जाते हैं—

करत मोंहि कछवै न बनी
हरि आये चितवत ही रही सखि जैसे चित्रधनी
अति आनन्द हरष आसन उस कमल कुटी अपनी
हृदय उमंगि कुच कलस प्रकट भये टूटी तरकि तनी
(सूरसागर १८८०)

विद्यापति की राधा कहती है कि हे प्रियतम तुम्हारे आने पर मैं अपनी देह के प्रत्येक अंग से मांगलिक आयोजन का साज करूँगी। दोनो कुचों को कनक-कुंभ की तरह स्थापित करूँगी और आँखों में काजल लगाकर उन्हें अपशकुन निवारणार्थ रखे हुए काजल-चित्रित दर्पण की तरह रखूगी—

पिया जब आओब मझु गेहे
मंगल जतनु करब निज देहे
कनअ कुंभ करि कुच युग राखी
दरपन धरब काजर देइ आँखि

प्रिय से मिलने को उत्सुक नायिका अभिसार के लिए जाने से पहले इतनी प्रेमविह्वल हो गई है कि वह निमीलता सी अपने घर में ही कहलकदमी कर रही है—

अज्ज भए गन्तव्यं धण अन्धारे वि तस्स सुहस्स
अज्जा निमीलिअच्छी पअ परिवाडि घरे कुरइ (३।४९)

सूर की राधा की भी तो अभिसार की उत्सुकता के कारण यही हालत हो जाती है—

आप उठी आँगन गई फिरि घर ही आई
कबधौ मिलिहौ स्याम कौ पल रह्यो न जाई
फिरि फिरि अजिरहिं भवनहिं तलवेली लागि
सूर स्याम के रस भरी राधा अनुरागी
(सूरसागर १९६६)

संक्रान्तिकालीन अपभ्रंश में लिखे हुए दोहों में मुंजराज और मृणालवती के प्रेम पर लिखे हुए दोहे अपनी रसमयता और साकेतिकता के लिए प्रसिद्ध है। आरंभिक ब्रजभाषा में लिखे ये दोहे शृंगार काव्य के 'मुक्ताहल' है। इनमें सहज प्रेम और नैसर्गिक माधुर्य की एकत्र पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है—

मुंज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयु न झूरि
जो सक्कर सय खण्ड थिय सोवि स मीठी चूरि

शर्करा का सौवां खण्ड भी क्या मिठास में कम होता है? मुंज अपनी प्रौढ़ा नायिका को हर प्रकार से आश्वस्त करना चाहता है।

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण मे सकलित दोहो में प्रेम और शृंगार की अत्यन्त स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। विरह की निगूढ़ वेदना को व्यक्त

करनेवाले एक-एक दोहे में परवर्ती ब्रजभाषा के विरहवर्णनो का पूरा इतिहास भरा पड़ा है। प्रिय-विश्लेष-दुःख से पीड़ित नायिका पी-पी पुकारने-वाले चातक से कहती है—रे नीरीह चातक क्यों व्यर्थ 'पिउ-पिउ' पुकार रहा है? इतना रोने से क्या होगा? तेरी जल से और मेरी बल्लभ से कभी आशा पूरी न होगी—

वप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ विहु वि न पूरिअ आस

पपीहे के बार-बार पुकारने पर वेदना-विजड़ित चित्त से वह निराशा को स्वाभाविक मानती हुई, आक्रोश भी व्यक्त करती है. चिल्लाने से कुछ न होगा, विमल जल से सागर भरा है किन्तु अभागे को एक बूद भी नहीं मिलती—

वप्पीहा कइं वोल्लिएण निग्घिण बारहि बार
सायर भरिअइ विमल जल लहइ न एकह धार

सूर की गोपियों के विरह-वर्णन को जिन्होने पढा है वे जानते हैं कि पपीहा के प्रति प्रेम-आक्रोश, सहानुभूति के कितने शब्द गोपियों ने नाना प्रकार के करुणापूर्ण भावोच्छ्वास के साथ सुनाये हैं—

(१) सखी री चातक मोहि जियावत
जैसे हि रैनि रटत हों पिव-पिव तैसैहिं वह पुनि गावत (३३३४)

(२) अजहु पिय पिय रजनि सुरति करि झूठो ही मुख मागत वारि। (३३५)

(३) सब जग सुखी दुखी तू जल बिनु तउ न उर की बिथा विचारत। (३३३८)

मिलन या संयोग शृंगार में जड़ता या अचेतन की स्थिति का वर्णन किया जाता है। अपभ्रंश दोहे मे एक नायिका कहती है कि अग से अंग न मिले, अधरों से अधर न मिले, मैंने तो प्रिय के मुख-कमल को देखते ही रात बिता दी—

अंगहि अंग न मिलिउ हलि अहरें अहर न पत्तु
पिउ जोअन्तिहे मुह कमल एम्बइ सुरउ समत्तु

प्रिय के सौन्दर्य का ऐसा ही अप्रतिम चित्रण सूरदास की रचनाओ में भरा पडा है—

कमल नैन मुख बिनु अवलौकै रहत न एक घरी
तब तैं अंग अंग छबि निरखत सो चित्त तें न टरी।
(सूर० ६३८६)

इन दोहों में कुछ तो सच्चे शृंगार और प्रेम के दोहे है, कुछ शृगारिक उक्तियो और उत्तेजन भाव के भी है जिनका अतिवादी विकास बाद में विहारी आदि रीतिकालीन कवियों के काव्य में दिखाई पडता है। इनमें शृंगार का गम्भीर रूप नही दिखाई पडता, ऊहात्मक अथवा अत्यन्त सस्ती कोटि की कामुक और शृंगारिक चेष्टाओ की विवृत्ति दिखाई पडती है। रीतिकालीन कविता को सस्ते किस्म के शृंगार की प्रेरणा भी यही से मिली, इसे भक्तिकाल के शृगार का ही विकास नही कहना चाहिए, वैसे सूर तथा अन्य भक्त कवियों ने शृगार का कही-कही बडा उद्दाम और विक्षोभक चित्रण भी किया है जो मर्यादित नही है, ऐसे चित्रणों ने ही रीतिकालीन कविता को शृंगार की अश्लील कोटि तक पहुँचाने में मदद की। इसके लिए कुछ अंशों में सूर, विद्यापति आदि के रतिं और संभोग के शृंगारिक वर्णन भी उत्तरदायी हो सकते है। इस प्रकार अष्टछाप के भक्त कवि अथवा रीतिकालीन कवियों की घोर शृंगारिक चेष्टाओं वाले काव्य की भी प्रेरणा प्राचीन ब्रज के इन दोहों मे वर्तमान थी—

विट्टी ए मइ भणिय तुहुं मा कुरु वंकी दिट्ठ
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठ

हे पुत्री मैंने तुझसे कहा था कि दृष्टि बाकी मत कर। यह अनीदार भाले की तरह हृदय मे पैठकर चोट करती है।

जैन कवियों की शृङ्गार और प्रेम-भावना

जैन काव्य धार्मिक माने जाते हैं। किन्तु जिन लोगो को यह देखना हो कि धार्मिक काव्यो मे शृंगार का सम्मिश्रण कैसे होता है वे कृपाकर के इन धार्मिक जैन काव्यो को देखें।

जैन-कवियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनमे जीवन-विरक्ति बहुत अधिक मात्रा मे है। डा० रामकुमार वर्मा ने इसी की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'साधारणतया जैन साहित्य में जैन धर्म का ही शान्त वातावरण व्याप्त है, संत के हृदय मे शृगार कैसा ?'[1] जैन काव्य में शान्ति या शम की प्रधानता है अवश्य किन्तु वह आरम्भ नही परिणति है। संभवतः पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र बना देना प्रकृति का विरोध है। जैन कवि इसे अच्छी तरह जानता है इसलिए उसने शम या विरक्ति को उद्देश्य के रूप में मानते हुए भी सांसारिक वैभव, रूप, विलास और कामासक्ति का चित्रण भी पूरे यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया है। जीवन का भोग-पक्ष इतना निर्बल तथा सहज आक्राम्य नही होता इसका आकर्षण दुर्निवार्य है, आसक्ति स्वाभाविक; इसीलिए साधना के कृपाण-पथ पर चलने वालो के लिए तो यह और भी भयंकर हो जाते है। भिक्षु बज्रयानी बन जाता है, शैव कापालिक। राहुल जी ने लिखा है कि 'इस युग मे तंत्र-मंत्र' भैरवी चक्र या गुप्त यौन-स्वातन्त्र्य का बहुत जोर था। बौद्ध और ब्राह्मण दोनों ही इसमे होड़ लगाये हुए थे भूत-प्रेत, जादू-मंतर और देवी-देवतावाद मे जैन भी किसी से पीछे नही थे। रहा सवाल वाम-मार्ग का, शायद उसका उतना जोर नही हुआ, लेकिन यह बिल्कुल ही

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १००।

नहीं था यह भी नहीं कहा जा सकता। आखिर चक्रेश्वरी देवी यहाँ भी विराजमान हुईं और हमारे मुनि कवि भी निर्वाण-कामिनी के आलिंगन का खूब गीत गाने लगे।''[1] सिद्ध साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य में रूप-सौन्दर्य का चित्रण कहीं ज्यादा बारीक और रंगीन हुआ है, क्योंकि जैन धर्म का सस्कार रूप को निर्वाण प्राप्ति के लिए सहायक नहीं मानता, रूप अदम्य आकर्षण की वस्तु होने के कारण निर्वाण में बाधक है—इस मान्यता के कारण जैन कवियों ने शृंगार का बडा ही उद्दाम वासनापूर्ण और क्षोभ-कारक चित्रण किया है, जड पदार्थ के प्रति मनुष्य का आकर्षण जितना घनिष्ट होगा, उससे विरक्ति उतनी ही तीव्र। शमन शक्ति की महत्ता का अनुमान तो इन्द्रिय भोग-स्पृहा की ताकत से ही किया जा सकता है। नारी के शृंगारिक रूप, यौवन तथा तज्जन्य कामोत्तेजना आदि का चित्रण इसी कारण बहुत सूक्ष्मता से किया गया है।

मुनि स्थूलभद्र पाटलिपुत्र में चौमासा बिताने के लिए रुक जाते हैं, इनके रूप और ब्रह्मचर्य से तेजोदीप्त शरीर को देखकर एक वेश्या आसक्त हो जाती है अपने सौन्दर्य के अप्रतिम सभार से मुनि को वशीभूत करने के लिए तत्पर उस रमणी का रूप कवि इन शब्दों में साकार करता है।—

कन्न जुयल जसु लहलहत किर मयण हिंडोला
चंचल चपल तरग चंग जसु नयण कचोला
सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा
कोमल विमल सुकंठ जासु वाजइ सखतूरा

प्रकम्पित कर्ण युगल मानो कामदेव के हिंडोले थे, चंचल उर्मियों से आपूरित नयन कचोले, सुन्दर विषैले फूल की तरह प्रफुल्लित कपोल-पालि, शख की तरह सुडौल सुचिक्कण निर्मल कठ .....उसके उरोज शृंगार के स्तवक थे, मानो पुष्पधन्वा कामदेव ने विश्वविजय के लिए अमृत कुंभ की स्थापना की थी :—

---

१. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३७।

तंगु पयोहर उल्लसई सिंगार थपक्का
कुसुम वाण निय अमिय कुंभ किर थापण मुक्का

कहीं कुच प्रिय आगमन के अवसर पर मंगल-कलश बनते है कही विजय-प्रयाण के अवसर पर। नव यौवन से विहसती हुई देह वाली, प्रथम प्रेम से उल्लसित रमणी अपने सुकुमार चरणो के अशिजित् पायल की रुनझुन से दिशाओ का चैतन्य करती हुई मुनि के पास पहुँची तो आकाश मे कौतिक-प्रिय देवताओं की भीड़ लग गई। वेश्या ने अपने हाव-भाव से मुनि को वशीभूत करने का बहुत प्रत्यन किया किन्तु मुनि का हृदय उस 'तप्त लोहे की तरह था जो उसकी बात से बिंध न सका। जिसने सिद्धि से परिणय कर लिया और संयम श्री के भोग में लीन है, उसे साधारण नारी के कटाक्ष कब डिगा सकते है —

मुनिवइ जंपइ वेस सिद्धि रमणी परिणेवा
मनु कीनउ संयम सिरि सों भोग रमेवा

यह है जैन कवि की अनासक्त रूपासक्ति। वह तिल-तिल जुटाकर सौन्दर्य के जिस ऐन्द्रजालिक माया-रूप का निर्माण करता है, उसी को एक ठेस से बिखरा देने मे उसे कभी संकोच नही होता। प्रेम के प्रसंगों में ऋतुवर्णन का प्रयोग प्राय: होता है। यह वर्णन उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उद्दीपनगत प्रकृतिचित्रण प्राय: प्रथा-प्रथित रूढ़ियो में आक्रान्त होता है। उपकरण प्राय: निश्चित हैं उन्ही के आधार पर प्रकृति को इतना आकर्षक और रुचिकर बनाना है कि यह निश्चित भाव को उद्दीप्त कर सके। ऐसी अवस्था में प्राय: वस्तुओं की नाम-परिगणना तो हो जाती है, किन्तु उद्दीपन का कार्य भी पूरा नहीं होता यानी वह प्रकृति-वर्णन सहृदय के मन को रंच मात्र भी नहीं छू पाता। जिन पद्मसूरि ने थूलिभद्द फागु में वर्षा का वर्णन किया है। यह वर्णन वस्तु-परिगणना पद्धति का ही है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु शब्दों का चयन कुछ इतना उपयुक्त है कि प्रकृति का एक सजीव चित्र खड़ा हो जाता है। ध्वन्यात्मक शब्दो के प्रयोग प्रकृति के कई उद्दाम उपकरणों को रूपाकार देने में सहायक हुए हैं:—

झिरि झिरि झिरिमिर झिरिमिर ए मेहा बरिसंत
खलहल खलहल खलहल ए बादला बहंत
झब झब झब झब झब झब ए बिजुलिय झंक्कइ
थरहर थरहर थरहर ए बिरहिणि मणु कंपइ ।६।
महुर गंभीर सरेण मेह जिमि जिमि गाजन्ते
पंच बाण निज कुसुम बाण तिम तिम साजन्ते
जिमि जिमि केतकि महमहंत परिमल विहसावइ
तिमि तिमि कामिय चरण लग्गि निज रमणि मनावइ ।७।

उसी प्रकार नेमिनाथ चौपई में नेमि और राजमती के प्रेम का अत्यन्त स्वाभाविक और संवेद्य चित्रण किया गया है। पारिवारिक प्रेम की इस पवित्र वेदना से किस सहृदय का मन द्रवीभूत नहीं हो जाता ? मधुमास के आगमन पर पवन के झकोंरो से वृक्षों के जीर्ण पत्ते टूट कर गिर पड़ते हैं मानों राजल के दुख से वृक्ष भी रो पडते हों। चैत में जब नव वनस्पतियाँ अकुरित हो जाती हैं, चारों ओर कोयल की टहकार गूजने लगती है, कामदेव अपने पुष्पधनु से राजल के हृदय को बेधने लगता है—

फागुण वागुनि पन्न पडन्त, राजल दुक्ख कि तरु रोयन्त
चैतमास वणसइ पंगुरइ, वणि वणि कोयल टहका करइ
पंचवाण करि धनुष धरेइ, वेझइ माडी राजल देइ
जुइ सखि मातेउ मास वसन्त, इणि खिल्लिजइ जइ हुइ कंत

किन्तु माधवी क्रीड़ा के लिए लालायित राजल का पति नही आता। ज्येष्ठ का उत्तप्त पवन धू-धूकर जलने लगता है, नदियाँ सूख जाती हैं, चंपालता को पुष्पित देखकर नेह-पगी राजल बेहोश हो जाती है—

जिट्ठ विरह जिमि तप्पइ सूर, छण वियोग सूखिउ नइ पूर
पिक्खिउ फुल्लिउ चंपइ विल्लि, राजल मूर्छी नेह गहिल्लि

जैन कवि पौराणिक चरित्रों में भी सामान्य जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की ही स्थापना करता है। उसके चरित्र अवतारी जीव नहीं होते इसीलिए उनके प्रेमादि के चित्रण देवत्व के आतंक से कभी भी कृत्रिम नही हो पाते। वे एक ऐसे जीवात्मा का चित्रण प्रस्तुत करते हैं जो अपनी

आंतरिक शक्तियों को वशीभूत करके परमेश्वर पद को प्राप्त करने के लिए निरन्तर सचेष्ट है। उसकी ऊर्ध्वमुखी चेतना आध्यात्मिक वातावरण में सास लेती है, किन्तु पंक से उत्पन्न कमल की तरह उसकी जड-सत्ता सांसारिक वातावरण से अलग नही है। इसीलिए संसार के अप्रतिम सौन्दर्य को भी तिरस्कृत करके अपने साधना-मार्ग पर अटल रहने वाले मुनि के प्रति पाठक अपनी पूरी श्रद्धा दे पाता है। जैन शृंगार-वर्णन के इस विवरण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक काव्यो मे जिनका मुख्य उद्देश्य भक्ति का प्रचार था, शृगार कभी उपेक्षित नही रहा, बल्कि इन वर्णनो से तो इसकी अतिशयता का भी पता चलता है।

नखशिख तथा रूप-चित्रण

रीतिकाल की शैली को यदि एकदम संकुचित अर्थ मे कहना चाहें तो नखशिख चित्रण और नायिका भेद की शैली कह सकते हैं। परवर्ती सत साहित्य मे ही इस प्रकार की शैली का प्रादुर्भाव हो गया था। एकदम रूढ अर्थ में उसे ऐसा न भी माने तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि भवभूति, माघ, श्रीहर्ष आदि की कृतियों मे नखशिख वर्णन अथवा मानव रूप-चित्रण ज्यादा अलकरण-प्रधान और विलक्षणता-बोधक होने लगा था। आचार्य शुक्ल ने नखशिख वर्णनों की अतिवादी परिणति की निन्दा करते हुए, मनुष्य के सहज रूप के चित्रण की विशेपता बताते हुए कहा है कि 'आकृति चित्रण का अत्यन्त उत्कर्ष वहाँ समझना चाहिए जहाँ दो व्यक्तियों के अलग-अलग चित्रों में हम भेद कर सके।'[१] शुक्ल जी ने इसी प्रसंग मे रीतिकालीन कवियों की शैली को अत्यन्त निकृष्ट बताते हुए लिखा है कि 'यहाँ हम रूप-चित्रण का कोई प्रयास नही पाते केवल विलक्षण उपमाओ और उत्प्रेक्षाओ की भरमार पाते हैं। इन उपमानों के योग द्वारा अंगों की सौन्दर्य-भावना से उत्पन्न सुखानुभूति मे अवश्य वृद्धि होती है, पर रूप निर्दिष्ट नही होता।'[२]

---

१. चिन्तामणि, भाग २, काशी २००२, पृ० ३९।

२. वही पृ० ३८।

नखशिख-वर्णन विद्यापति या सूर तथा उनके अन्य समसामयिक ब्रज-भाषा कवियों में मिलता है। कहीं-कहीं तो इस चित्रण में वस्तुतः रूढ़ियों के प्रयोग की इयत्ता हो जाती है। सूरदास के 'अद्भुत एक अनूपम बाग-' वाले प्रसिद्ध नखशिख-चित्रण को लक्ष्य करके शुक्ल जी ने लिखा था कि 'इस स्वभाव सिद्ध (तुलसी के) अद्भुत व्यापार के सामने कमल पर कदली कदली पर कुड, शख पर चन्द्रमा आदि कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध रूपकातिशयोक्ति के कागजी दृश्य क्या चीज ह ?'[१] हमें यहाँ पर विचार करना है कि विद्यापति, सूरदास आदि की कविताओं मे जो इस प्रकार की 'कवि प्रौढ़ोक्ति, रूप-कातिशयोक्ति' की अधिकता दिखाई पड़ती है, उसका कारण क्या है? मैने ऊपर निवेदन किया है कि संस्कृत के परवर्ती काव्यों में भी इस प्रकार के अलंकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। किन्तु नखशिख-वर्णन की इस शैली का विकास—इस अतिशयतावादी शैली का—परवर्ती जैन अपभ्रंश काव्यो तथा आरभिक ब्रजभाषा की रचनाओं में भी दिखाई पड़ता है। थूलि-मद्दफागु मे वेश्या के रूप-वर्णन मे यद्यपि शैली रूढ़ है इसमे सन्देह नही, किन्तु लेखक ने उसे 'विलक्षणता' प्रदर्शन के लिए नही अपनाया है। यौवन-सम्पन्न उरोजो की उपमा वसन्त के पुष्पित फूलो के स्तवक से देना एक प्रकार का अलंकरण ही कहा जायेगा, किन्तु यह अलंकरण रूप-चित्रण में बाधक नही है, बल्कि उसे और भी अधिक उद्भासित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। पुष्तदंत ने नारी सौन्दर्य का जो चित्रण किया है वह अभूत पूर्व है। पुष्पदंत के चित्रण शुक्ल जी द्वारा प्रतिष्ठापित मानदण्ड के अनुकूल है, उन्होंने न केवल दो नारियों के रूप में अन्तर को स्पष्ट अंकित किया है बल्कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों की नारियों के रूप, स्वभाव, तथा व्यवहारों का ऐसा सूक्ष्म वर्णन किया है जैसा पूर्ववर्ती काव्यो में कम मिलेगा। हिन्दी काव्यधारा के पृष्ठ २०० पर दिये गए पद्यांश में नारी-सौन्दर्य का चित्रण देखा जा सकता है। हेमचन्द्र-संकलित अपभ्रंश दोहों में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। स्फुट मुक्तक होने के कारण इनमें सर्वागीणता नही दिखाई

---

१. देखिए शुक्ल जी का 'तुलसीदास की भावुकता' शीर्षक निबन्ध।

पड़ती, किन्तु सूक्ष्मता का स्पर्श तो है ही। जैसे नेत्रों के वर्णन देखिए :—

जिवं जिवं वंकिम्र लोम्रणहु निरु सामलि सिक्खेइ
तिवं तिवं कम्महु निम्रय सर खर पत्थर तिक्खेइ

ज्यों-ज्यों गोरी अपनी बाँकी आँखों को भंगिमा सिखाती है, वैसे ही वैसे मानों कामदेव अपने वाणों को पत्थर पर तीखा करता जाता है।

नखशिख वर्णन का और अधिक प्राधान्य परवर्ती रचनाओं में दिखाई पड़ता है। प्राकृत पैंगलम् की ब्रजभाषा-रचनाओं मे ऐसे वर्णन विरल नही हैं जो किसी काव्य के नखशिख-चित्रण के प्रसंग से छांटे गए है।

रासो काव्यों में वर्णित नखशिख शैली का भी प्रभाव सूर आदि पर कम न पड़ा। 'सन्देश रासक' मे नायिका के रूप का चित्रण रूढ़ शैली का ही है, किन्तु उसमे उपमानों के चयन मे कवि की अन्तर्दृष्टि और सूझ का पता चलता है। पथिक से अपने विदेशस्थित पति को सन्देश भेजते समय उसके रूप की क्षण-क्षण परिवर्तित दशा का कवि ने स्थान-स्थान पर बड़ा मार्मिक चित्रण किया है—

छायंती कह कहव सलज्जिवर णिय करही
कणक कलस झंपंती णं इन्दीवरही
तो आसन्न पहुत्त सगग्गिर गिरवयनी
कियउ सद्द सविलासु करुण दीहर नयनी
(संदेश रासक २९)

इस विवरण को थोड़ा विस्तार से देना आवश्यक हो गया था क्योंकि लोग प्राय: ऐसा समझते है कि भक्ति काव्यो में शृंगार का कोई स्थान नही। जो लोग भक्ति और शृंगार का इतना बड़ा विभेद लेकर विद्यापति के काव्य का अध्ययन करते है, उन्हें वे घोर शृंगारिक प्रतीत हों सकते हैं, और वे है भी; किन्तु शृंगारिक होने के कारण ही उनकी कविताओं मे भक्ति भाव का अभाव नही प्रमाणित होता। दूसरा प्रश्न है नखशिख वर्णन का। नखशिख वर्णन का उपर्युक्त विवेचन क्या इस बात का प्रमाण नहीं है कि यह परिपाटी मध्यकालीन काव्य की सर्वमान्य और सर्वत्रगृहीत

प्रणाली है। इसके प्रभाव से संस्कृत, प्राकृत, और भाषा का कोई कवि नहीं बचा। यहाँ तक कि शम और विराग जिन कवियों का उद्देश्य रहा है, वे भी नखशिख सौन्दर्य का वर्णन परम्परा-विहित परिपाटी के अन्दर ही करते थे। जैन कवियों तक ने नखशिख वर्णन को इसी ढंग से अपनाया। विद्यापति के नखशिख वर्णनों पर कामशास्त्र, सामुद्रिक आदि का भी प्रभाव कम न पड़ा। वैसे सम्पूर्ण नखशिख-वर्णन की पूरी परिपाटी चाहे वह जैन-बौद्ध या हिन्दू किसी भी कवि द्वारा अपनाई गई हो, कामशास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र के नारी लक्षणों से बहुत प्रभावित रही है। विद्यापति ने यदि इस परपरा को अपनाया तो यह कोई अपराध नहीं है। और न तो इसके आधार पर उन्हे शृंगारिक कह कर टाला ही जा सकता है। नख-शिख वर्णन कदर्थना की वस्तु नही है, बुरी है नखशिख वर्णन की निरुद्देश्य या रूपलोभपूर्ण आसक्ति।

राधा : पार्थिव प्रतिमा पराशक्ति के रूप में

मध्यकालीन साहित्य को यदि किसी एक शब्द मे अभिव्यक्त करना हो तो नि:सकोच भाव से कहा जा सकता है कि वह शब्द हे राधा। राधा मध्यकालीन साहित्य को प्रेरणाशक्ति है, अधिष्ठात्री है और साथ ही वह नारी की एक ऐसी मांसल मूर्त्ति है जिसके शरीर के हर अणु मे कच्ची मिट्टी की गंध है और आत्मा के प्रत्येक चेतन-परमाणु में दिव्य-प्रेम की अलौकिक छटा। छठवीं शताब्दी से १० वी तक का सम्पूर्ण भारतीय वाङमय इस अनुपम नारी-रत्न की छायाव्यतिकार-सौन्दर्य-सृष्टि से अनुप्राणित हुआ है।

राधा शब्द का सबसे पहला प्रयोग कब हुआ, यह प्रश्न प्राय: साहित्य के जिज्ञासु अनुसंधायकों के चित्त को उद्वेलित करता रहा है। राधा किसी नारी का नाम नहीं है, यह नारी-जीवन की सम्पूर्ण गरिमा, तेजोद्दीपता, समर्पण, प्रेम की अनन्यता तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य, शील और प्रज्ञा के घन-विग्रह का अभिधान है। राधा के भारतीय प्रेम-साधना की परिणति का नाम है। इस साधना का आरम्भ वैदिक साहित्य मे ही दिखाई पड़ने लगता है जब ऋषि ने प्रकृति को आद्याशक्ति के रूप में अपनी प्रथम श्रद्धाजलि अर्पित की। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त मे शक्ति के पृथ्वीरूप की जो वन्दना है वह विश्वजननी पृथ्वी के प्रति मनुष्य की प्रणति का प्रथम उच्छ्वास नहीं तो क्या है? डा० शशिभूषणदास गुप्त ने श्रीराधा का क्रम विकास स्पष्ट करते हुए बताया है कि 'वेद में वर्णित पृथ्वी की इस देवीमूर्ति के साथ परवर्ती काल की विष्णु की भू-शक्ति की योजना स्मरण की जाती है। श्रुतियो मे हमें शक्ति का लक्षणीय उल्लेख मिलता है। केनोपनिषद में जहाँ ब्रह्मशक्ति ही असल-शक्ति है—वह शक्ति जो अग्नि वायु, इन्द्र

आदि सभी, देवताओं के अन्दर क्रियमाण है—देवताओं को यही तत्व दिखाने के लिए साक्षात् ब्रह्मविद्या बहुशोभमाना हैमवती उमा के रूप में आकाश मे आविभूता हुई।'[१]

उपनिषदों में शक्ति के रूप और सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाले बहुत से प्रसंग दिखाई पड़ते है, जिसमें शक्ति अजा, लोहित शुक्ल कृष्णवर्णा, आत्मानुरूपा, बहुप्रजा, आदि रूपों में अभिनन्दित की गई है।[२] आद्या शक्ति या देवी का सबसे पूर्ण या महिमामण्डित रूप मार्कण्डेय पुराण में दिखाई पड़ता है। इस चित्रण में सौन्दर्य, शील और शक्ति तीनों का ही चरम उत्कर्ष एकत्र सन्निहित होकर उपस्थित हुआ है। देवी यहाँ न केवल शुभ्र प्रज्ञारूपा और दिव्य है बल्कि वह मंगल सौन्दर्य, राजस् गणों से युक्त है। हाव-भाव, तथा अन्य नारी सुलभ प्रक्षोभक अलंकरणों से सज्जित भी है। देवी-सौन्दर्य के चित्रण में कामशास्त्रीय लक्षण देखे जा सकते है, वह पराशक्ति के रूप में सहस्रों उदीयमान सूर्यों की कान्ति को धारण करनेवाली, लाल रेशमी वस्त्र में आवृत, लाल चन्दन से लिप्त पयोधरों वाली, कमल के समान नेत्रो की काति को धारण करने वाली है—

ॐ उद्यद्भानसहस्रकान्तिमरुणक्षौमा शिरोमालिका
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटी विद्यामभीति वरम्
हस्ताब्जैर्दधती त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियम्
देवीं बद्धहिमाशुरत्नमुकुटा वन्देऽरविन्दस्थिताम्

साथ ही मातंगी के रूप में वही देवी श्यामल अंगों पर रक्त वस्त्र और अरुण कचुकी धारण करने वाली मुकुलित कमल की माला पहने हुई रत्न-पीठ पर बैठी हुई पिजर बद्ध शुक के मीठे शब्दों को सुनती हुई, वीणा-वादन करती हुई, हाथ के शंख पात्र में आसव लिए हुए अलस नेत्रो वाली भी दिखाई पड़ती है—

---

१. श्री राधा का क्रम-वकास, हिन्दी संस्करण, १९५६ ईस्वी, पृ० १०

२. श्वेताश्वेतरोपनिषद् ४।४

ॐ ध्यायेयं रत्नपीठे शुककलपठितं श्रृण्वती श्यामलांगी
न्यस्तैकाङ्घ्रि सरोजे शशिशकलधरां वल्लकीं वादयन्तीम्
कल्हाराबद्धमालां नियमितविलसच्चोलिकां रक्तवस्त्रा
मातंगी शंखपात्रां मधुरमधुमदा चित्रकोद्भासिभालाम्

शक्ति के उपर्युक्त दोनों रूपों को देखने से भलीभाँति प्रकट हो जाता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से श्री-शोभा वर्णन के प्रसंग में देवी के रूप के दोनों पक्षों का समवेत चित्रण होता रहा है। मासल-सौंदर्य और अलस नेत्रों की कान्ति का वर्णन ही नही, देवी को 'शखपात्रा' और 'शुककलपठितश्रृण्वती' भी कहा गया है। ये अभिप्राय या अलंकरण की रूढ़ियाँ मध्यकालीन काव्य मे नायिका के वर्णन मे बहुत बार प्रयुक्त हुई हैं।

डा० दासगुप्त का यह निष्कर्ष उचित है कि 'तंत्र पुराणादि या शैव-दर्शन मे जहाँ शक्ति तत्व का विवेचन भलिभाँति प्रारम्भ हुआ है, वहाँ देखते है कि शक्तिवाद ने वैष्णवधर्म और दर्शन मे भी घुसना शुरू किया है और हमारा विश्वास है कि वैष्णव धर्म और दर्शन में घुसा हुआ यह शक्तिवाद ही परवर्ती काल में पूर्ण विकसित राधावाद में परिणत हुआ।'[1]

श्रीमदभागवत कृष्णचरित्र का कोश-ग्रंथ है और साथ ही परवर्ती कृष्णलीला सम्बन्धी कविताओं का उपजीव्य-स्त्रोत; किन्तु राधा कृष्ण-प्रिया के रूप में इस ग्रंथ में भी दिखाई नही पडती। गोपियों का वर्णन है, रास के अत्यन्त मादक रूप का बहुत ही सूक्ष्म चित्रण हुआ है, किन्तु कृष्ण की अनन्य प्रिया के रूप में यहाँ कहीं भी राधा दिखाई नही पडती। भागवत में रास क्रीडा के प्रसंग में एक स्थान पर यह वर्णन अवश्य आता है कि कृष्ण अपनी प्रियतमा गोपी को लेकर गायब हो गए, तदनन्तर उनके वियोग में व्याकुलिता गोपियों ने उस सौभाग्यवती गोपी को लक्ष्य करके किंचित ईर्ष्यावश कहा था:—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः
(१०।२०।२४)

---

१. राधा का क्रम-वकास, पृष्ठ १३

अर्थात् इसी ने भगवान् हरि की सही आराधना की है। क्योंकि हमें छोडकर गोविन्द इसी के प्रेम में पगे हुए है। 'अनयाराधित' शब्द को लेकर विद्वानों ने राधा नाम के संधान का प्रयास किया और बताया कि 'आराधना' से ही राधा-नाम का आविर्भाव हुआ। परवर्ती पुराणो में राधा का नाम अवश्य आता है। पद्मपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि में राधा के विषय में उल्लेख प्राप्त होते है। गौड़ीय वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी ने अपने ग्रंथ 'उज्ज्वल नीलमणि' मे राधा प्रकरण के अन्तर्गत यह बतलाया है कि गोपालोत्तरतापनी मे राधा गांधर्वी नाम से प्रसिद्ध है तथा ऋक्परिशिष्ट में राधा माधव के साथ उदित है।'

गोपालोत्तरतापन्या यद् गान्धर्वीति विश्रुता
राधेत्यृक्परिशिष्टे च माधवेन सहोदिता

राधाविषयक अन्य प्राचीन उल्लेखों का सन्धान करते हुए डा० शशिभूषणदास गुप्त ने दक्षिण के वैष्णव भक्त आलवारों के भजनों में आने वाली नायिका 'नाप्पिन्नाइ' पर भी विचार किया है। नाप्पिन्नाइ एक फूल का नाम है। नाप्पिन्नाइ को कृष्ण की प्रियतमा और लक्ष्मी का अवतार बताया गया है। 'नाप्पिन्नाइ राधा की तरह ही गजगामिनी है, गौरी है, सौन्दर्य की प्रतिमा है। नाप्पिन्नाइ ही गोपियों में प्रधान और कृष्ण की प्रियतमा है। इस पौराणिक कल्पना को इन्होंने (आलवारों ने) स्थानीय उपाख्यानों में मिलाकर थोडा बहुत बदल दिया।"[१] आलवार भक्तों के तिथिकाल के विषय मे काफी विवाद है, फिर भी इतना तो माना ही जाता है कि इनका आविर्भाव पांचवी शताब्दी से नवी के बीच में हुआ था।[२] इस दृष्टि से नाप्पिन्नाइ के रूप में कृष्ण की एक प्रियतमा गोपी का विवरण और वह भी राधा से मिलता जुलता, काफी महत्व का है; इसमें सन्देह नही।

गाथा-सप्तसती मध्यकाल की स्वच्छन्द प्रेमविषयक कविताओं का रत्न-कोश है। कहते है एक बार सरस्वती की कृपा से राजा हाल के

---

१. श्रीराधा का क्रम-विकास, पृ० ११६।

२. गोविन्दाचार्य कृत—डिवाइन विजिडम अव् द्रविड सेन्ट्स।

सभी नागरिक एक दिन के लिए कवि हो गए और इन अनगिनत लोगों के कंठ से अजस्र धारा की तरह कविता फूट पड़ी। इनमें से सर्वोत्तम चुनकर राजा हाल ने गाथा-सप्तसती का निर्माण किया। कादम्बरीकार वाणभट्ट ने इस जनश्रुति की ओर संकेत किया है। गाथा-सप्तसती मे बहुत से ऐसे पद हैं जिनमे श्रृंगार, रति, तथा प्रकृति (खास तौर से उद्दीपन के रूप में) के मनोरम चित्र भरे पडे हैं। मैंने पीछे इस प्रकार के कुछ पद्यो के तुल-नात्मक प्रसंग और उसका सूर और विद्यापति के पदों पर प्रभाव दिखाया है। इनमे से कुछ पद्य कृष्ण और राधा के प्रेम-विषयक भी प्रतीत होते हैं। एक गाथा मे तो राधा शब्द का स्पष्ट प्रयोग भी हुआ है। कोई गोपवाल कहता है कि हे कृष्ण तुम अपने मुख-मारुत से राधा के मुह पर लगे हुए गोरज का अपनयन करके इन वल्लभियों के तथा अन्यों के गौरव का अपहरण कर रहे हो :—

मुहमारुहेण तं कण्ह गोरअ राहिआए अवणेन्तो
एताणं वलवीणं अण्णाणं वि गौरअं हरसि

यहाँ 'गौरअ' में यमक के आधार पर अच्छा चमत्कार भी प्रस्तुत हो जाता है। गोरअं का एक अर्थ गोरज और दूसरा गौरव है।

प्राकृत-अपभ्रंश काव्य में आने वाले राधासम्बन्धी अन्य प्रसंगों पर पीछे विचार किया जा चुका है। पुष्पदन्त के उत्तरपुराण का रास प्रसंग, प्राकृतपैंगलम् की नौका लीला का दोहा, हेम प्राकृत-व्याकरण के राधा-सम्बन्धी दोहों पर हम पीछे लिख चुके है (दे० भक्ति काव्य की सास्कृतिक पृष्ठ भूमि)

राधा के विषय में भट्टनारायण के वेणीसंहार, त्रिविक्रम भट्ट के नलचम्पू, माघकृत शिशुपाल वध, सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू तथा कतिपय अन्य काव्य ग्रंथों मे प्रसंगोनुकूल चर्चायें दिखाई पडती है। राधाकृष्ण प्रेम का सर्वाधिक मृदुल और मादक वर्णन जयदेव न अपने गीतगोविन्द में प्रस्तुत किया। जयदेव के गीतगोविन्द मे पहली बार एक सामान्य मानवी अपन सम्पूर्ण मांसल पार्थिव शरीर-सौन्दर्य-संभार के साथ भगवान्

की प्रियतमा के रूप में दैवी शक्ति का आधार-स्थल बनकर आई। जयदेव ने 'हरिस्मरण' और 'कामकला कुतूहल' को एकत्र समन्वित कर दिया। ऐसा नही कि जयदेव के पहले इस प्रकार का प्रयत्न नही हुआ था। भक्ति काव्य की सास्कृतिक पृष्ठभूमि के पुनर्परीक्षण के सिलसिले मे मैने बार-बार निवेदन किया है कि भक्त कवियों को काव्य की जो परम्परा मिली उसमें भक्ति और रति का ऐसा पार्थक्य नही था। प्राकृत और अपभ्रश के आमुष्मिकता-परक प्रेम काव्य जो जन-चित्त को पूर्णतः अभिभूत किये हुए थे, भक्त कवियों के लिए भी माध्यम थे उन्होंने उसी प्रेम काव्य के माध्यम को अपनाया। जड़ोन्मुख प्रेम को चिदोन्मुख बनाने के सकल्प के साथ ही उनका यह कर्त्तव्य था कि ये मासल सासारिक प्रेम को एक दिव्यता प्रदान करे। जयदेव ने यह कार्य सम्पन्न किया। वैसे उनके काव्य मे भौतिक प्रेम का स्वर ही ज्यादा मुखर दिखाई पड़ता है।

जयदेव की राधा सासारिक मानवी की तरह ही प्रेम-विह्वला, मानिनी, प्रेमिका, केलि और रति-सुख की विदग्धा तथा अपने प्रियतम के गले मे कंठहार की तरह निरन्तर आलिगन मे सुख मानने वाली बालिका है। कन्दर्प-ज्वर से पीड़ित क्षणिक विरह मे भी जल-विहिन मीन की तरह तडफडाने वाली राधिका सखी के मुख से कृष्ण और अन्य गोपियों की रतिक्रीड़ाओं का वर्णन सुनकर ईर्ष्या से कातर हो उठती है। सखी इस संताप में और वृद्धि करती हुई जब प्रकृति के उस रूप की चर्चा करती है जो अपने वासंती उद्दाम सौन्दर्य से युवतियो के हृदय को पीड़ा से मथ देता है, तो एक क्षण के लिए राधा का चित्त चंचल हो उठता है। वह लाल किशुंक फूलों को जो युवक-युवतियो के हृदय को विदीर्ण करने वाले कामदेव के रक्त लिप्त नख की तरह दिखाई पड़ते है तथा नागकेसर के श्वेतपटल को जो मदन महीपति के कनक-दंड की छवि धारण किये हुए है, देखती रह जाती है :—

मृदमदसौरभरभस - वशवदनवदलमालतमाले
युवजनहृदय-विदारण-मनसिजनखरुचि-किशुकजाले

मदनमहीपति कनकदंड-रुचि केसर-कुसुम-विकासे
मिलित-शिलीमुख-पाटलपटलकृतस्मरतूणविलासे

वह अभिसार-पराभव के इस दुःख को संभाल नही पाती और उलटे पैरों वापिस लौट जाती है, किन्तु कृष्ण की भुवनमोहिनी छवि को वह कैसे भुला दे ? वह अपने प्रेम-कातर मन से कृष्ण के चन्द्राकार मयूरपक्ष, चंचल नेत्र, कपोलों पर आन्दोलित कर्णावतंस तथा इन्द्रधनु-अनुरंजित सान्द्र मेघ के सदृश उस रूप को कैसे अलग कर दे ? वह बार-बार अपने हृदय को समझाती है। क्या हुआ यदि कृष्ण बहु वल्लभ है ? क्या हुआ यदि वे हमारे प्रेम की चिन्ता नही करते ? 'यही राधिका के हृदय की दुर्बलता है। इस दुर्बलता के कारण ही उसका प्रेम इतना वेगवान् हो सका है। इसी कातरता की आच में तप कर वह सोना निखर पड़ा।'[१] राधा के इस विरह दुःख का हाल गोपी कृष्ण को सुनाती है। वह साफ कहती है कि माधव आपकी प्राप्ति दुर्लभ है फिर भी वह आपको कल्पना करके विलाप करती है, हँसती है, विचार करती है—जैसे आप उसकी आँखों के सामने खड़े हों। वह आपके ध्यान में लय हो चुकी है। वह तो आपके चरणो में पड़ी हुई यह सोचती है कि आपके बिना सुधावर्षी चन्द्र भी उसके शरीर मे दाह उत्पन्न करता है—

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम्
विलपति हसति विषीदति रोदिति चंचति मोचति तापम्
प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव तव चरणे पतिताहम्
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम्

जयदेव कवि ने राधा की इस विरह-व्यथा का अत्यन्त व्यापक चित्रण किया है। इस चित्रण में प्रायः प्रकृति के सभी सौन्दर्योत्पादक तथा मनोरम दृश्य उद्दीपन की तरह प्रस्तुत किये गए हैं। राधा एक सामान्य मानवी की तरह अपनी संभोगेच्छा के वेग को रोक नहीं पाती—और पूर्व-सम्मिलन के क्षणों को सोच-सोचकर आँसू गारती रहती है। उसकी यह सहज

१. मध्यकालीन धर्मसाधना, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १५१।

मानव-धर्मिता ही उसके चित्त की पीड़ा को गाढ़ रूप मे प्रकट कर सकी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'जयदेव की विलासिनी राधा और कितव कृष्ण की विलास-कला वस्तुतः आधी भी नही रहेगी यदि राधिका को एकान्त प्रेम-निर्भर भक्त के रूप में न देखा जाय। भगवान् की प्राप्ति के लिए जयदेव की राधा इतनी व्याकुल है कि वे सभी कारण जो सासारिक रमणियो की विरक्ति के साधन हैं, उन्हे (राधा को) प्रेम के मार्ग से विचलित नही कर सकते। क्षण भर के विलम्ब मे भी जो चित्त उत्कंठार्ति के बोझ से फट पड़ता है उसकी सुदूर प्रवास के वियोग की अवस्था कल्पना से भी परे है। इसीलिए कहते है कि इस मृणालतन्तु को जयदेव ने प्रखर ग्रीष्म के ताप मे न रखकर अच्छा ही किया-अच्छा ही किया।'

राधा की यह मूर्ति जो वेदकाल के पृथ्वीरूप से प्रस्फुटित होकर नाना पुराणों के देवी रूप, लक्ष्मी श्री रूप तथा तंत्रों में वर्णित देवी रूपों से पुष्ट होती हुई मध्यकालीन प्रेमप्रधान काव्यों में प्राणप्रतिष्ठा प्राप्त करके जयदेव के काव्य की राधा के रूप मे उपस्थित हुई—विद्यापति को इसी प्रकार प्राप्त हुई जैसे किसी परिवार के व्यक्ति को पूर्वजो की सम्पत्ति अपनी सम्पूर्ण गरिमा, अन्धविश्वास, गन्दगी, शुभ्रता के समवेत गुण-दोषों के साथ प्राप्त होती है। विद्यापति ने राधा की इस प्रतिमा को अपने तरह से देखा, सोचा, समझा और उन्होंने अपनी सम्पूर्ण साधना और शक्ति के सयोग से इसे अभिनव रूप प्रदान किया।

विद्यापति की राधा

विद्यापति की राधा के रूप, चरित्र और शील मे कुछ ऐसा है जो केवल विद्यापति ही प्रस्तुत कर सकते थे। राधा उनके सम्पूर्ण मानस-सौन्दर्य का घन-विग्रह है, इस मूर्ति के निर्माण मे कवि ने अपना सारा निजत्व, हृदय का सम्पूर्ण भाव-संभार अर्पित कर दिया है।

बालिका के रूप में राधा के चित का प्रस्फुटन कवि के लिए आकर्षण की वस्तु नही। विद्यापति की राधिका के जीवन का प्रथम क्षण उस समय

आरम्भ हुआ जब कृष्ण ने एक ऐसी अपरूप बालिका देखी जो यौवन के आकस्मिक आगमन पर कुतूहलचकित होकर अपने अंगों का उभार देखते हुए विचित्र प्रकार के आनन्द मे विभोर हो जाती है—

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल
स्रवन क पथ दुह लोचन लेल।
निरजन उरज हेरइ कत वेरि
हंसइ जे अपन पयोधर हेरि

यौवन की बालसुलभ अल्हड चेष्टाये ठिठक कर रह गई, हँसने, चलने बोलने और साधारण व्यवहार मे भी भिन्नता आ गई—

प्रकट हास अब गोपित भेल
वरण प्रकट फिर उन्हके नेल
चरन चपल गति लोचन पाव
लोचन के धीरज पद तले जाव
नव कवि सेखर कि कहित पार
भिन भिन राज भिन्न वेवहार

यौवन का यह प्रथम चरण-निक्षेप वाला के चित्त को एक विचित्र भावभंगी से भर देता है। क्षण क्षण पर नेत्र चक्षु-कोरक का अनुसरण करते हैं। क्षण-क्षण पर असंयत वस्त्र धूल में लोटकर शरीर को धूलि-धूसरित कर देते हैं। क्षण-क्षण उसके मधुर हास से दातो की धवल पंक्तियाँ चमक उठती हैं। क्षण-क्षण लज्जा के कारण वह होठों पर वस्त्र रख लेती है। क्षण-क्षण' चौककर धीरे-धीरे चलने लगती है। हृदय के मुकुल को देखकर उनपर लज्जा से वस्त्र डालती है, कभी वस्त्र डालना भूल जाती है। उसके शरीर मे शैशव और यौवन दोनो एकत्र मिल गए हैं, कौन कम है कौन अधिक, यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है—

खने खने नयन कोन अनुसरई
खने खने वसन धूलि तनु भरई

खने खने दसन छुटा छुट हास
खने खने अधर आगे गहु वास
चउंकि चले खने खने चले मन्दु
मन्मथ पाठ पहिल अनुबन्ध
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर
खने आंचर देइ खने होए भोर
बाला सैसव तारुन भेट
लखए न पारिय जेठ कनेठ

इन्ही दिनो जब राधा अपने यौवन के दुरतिक्रम बोझ को सँभालने में असमर्थ ब्रज की खोरियो में घूम रही थी, कि अचानक कृष्ण पर दृष्टि पड़ गई। राधा और कृष्ण का यह प्रथम मिलन कवि की अनुपम निधि है। दो तरुण हृदयो के इस मिलन पर दोनों के हृदय के मन्थन, कुतूहल, रूपासक्ति और प्रेम-विह्वलता का विद्यापति ने अत्यन्त विशद चित्रण किया है।

राधा के रूप को कृष्ण विजड़ित-चित्त से देखते रह गए, किन्तु एक क्षण का यह मिलन पीड़ा का नया ससार दे गया। मेघमाला की सान्द्र नीलिमा मे जैसे तड़ित-लता एक क्षण के लिए झिलमिला कर छिप जाए, राधा के रूप की वह झलक हृदयो को बर्छी की तरह चीरती चली गई। वे उसे अच्छी तरह देख भी न सके—

सजनी भल कए पेखल न भेलि
मेघमाल सयँ तड़ित लता जनि
हिरदय सेल दई गेलि

चंचल पवन के झकोरे से वस्त्र गिर गया। अचानक राधा की सुचिक्कण देह-यष्टि दिखाई पड़ गई। केशपाश से घिरी हुई वह देह-यष्टि लगा जैसे नये श्याम जलधर के नीचे बिजली की रेखा चल रही है। धनि के इस गमन को देखकर मेरा चित प्रेम-रंग मे डूब गया—लगा कि जैसे सोने की लता निरवलम्ब भाव से पृथ्वी पर विचरण कर रही है—

ससन परसु खसु अम्बर रे
देखल धनि देह

नव जलधर तर संचर रे
जनि विजुरि रेह
आज देखलि धनि जाइति रे
मोहि उपजल रंग
कनक लता जनि संचर रे
महि निर अवलम्ब

राधा रूप की पराकाष्ठा है। उसका सब कुछ मधुर है। मधुर रस की अधिष्ठात्री देवी की तरह भक्तों के चित्त को उद्वेलित करने वाली राधा की यह मूर्त्ति कृष्ण के चित्त को प्रेम-वैचित्य के नाना भावों से मथ देती है। राधा ने कृष्ण को सामने खड़ा देख सिर झुकाकर मुँह फेर लिया। उनके मन में यह सौन्दर्य-मूर्ति ऐसी अड गई है कि—

मन मोर चंचल लोचन विकल भेल
ओनहिं अनइत जाई
आड़ वदन कए मधुर हास दए
सुन्दरि रहु सिर नाई

ऐन्द्रजालिक के कुसुम शायक की तरह मायाविनि की वह छवि भुलाये नहीं भूलती उसके चरणों का जावक मेरे मन को पावक की तरह दग्ध कर रहा है—

गेलि कामिनि गजहु गामिनि, विहसि पलटि निहारि
इन्द्रजालक कुसुम सायक, कुहुकि भेल वर नारि
पुनहि दरसन जीव जुडाएव, टूटत विहरक ओर
चरन जावक हृदय पावक, दहत सब अंग मोर

कृष्ण की अनुपम छवि को देखकर राधा भी कुछ कम आकृष्ट न हुई। उसे तो सब कुछ जैसे स्वप्नवत मालूम हो रहा था। वह अपनी सखि से जब कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन करने लगी तो उसे विश्वास भी नही हुआ कि ऐसा रूप कही संभव भी हो सकता है—

ए सखि पेखलि एक अपरूप
सुनइति मानव सपन सरूप

उस अपूर्व सौन्दर्य को एक निमिष तक ही तो वह देख सकी थी। किन्तु वह एक क्षण का दर्शन-सुख उसने मन-मृग के मर्म को क्रूर व्याध के विषम शर की तरह वेध गया। कदम्ब वृक्षों से आच्छादित यमुना के तट पर घनमाला की तरह सुन्दर उस रूप को देखने के लिए वह व्याकुल हो उठी। किन्तु लाज के मारे पूरा देख भी न सकी, उलट-उलट कर देखते समय वह गिर पड़ी, उसके पैर काँटों से लहू-लुहान हो गए—

> कि लगि कौतुक देखलों सखि निमिष लोचन आध
> मोर मन मृग मरम बेधल विषम बान बेआध
> तीर तरगिनि कदम्ब कानन निकट जमुना घाट
> उलटि हेरइत उलट परलौं चरन चीरल काँट

अपनी प्रेमदशा की इतनी सरल और मासूमियतभरी व्यंजना शायद ही कोई कर पाये। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूर की बालिका राधा की सहज स्वाभाविकता और भोलेपन की प्रशंसा करते हुए कहा है कि 'वास्तव म सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है। उसके प्रेम में चण्डीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका की भाँति हास में रुदन और रुदन में हास की चातुरी भी नही है।'[1] किन्तु ऊपर के पद से विद्यापति की राधा के सरल चित्त के जिस भाव की व्यंजना होती है, उसमें पीड़ा की स्वीकृति और अपनी विडम्बना की विवृति ही ज्यादा है कुछ चातुरी नही। वह अपनी अल्हड़ता मे भी उस क्षणिक मिलन के बाद कितनी व्याकुल और गम्भीर है। उलट-उलट कर पीछे देखते समय उसके पैर काँटों से छिल गए इस भाव को बिना संकोच के वह व्यक्त कर देती है। रही चातुरी सो तो सूरदास की राधा मे भी कम नहीं हैं, बल्कि सखियों को बार-बार धोखा देकर कृष्ण को सम्पूर्ण अपना बना लेने की चालबाजियाँ वहाँ कही ज्यादा मात्रा मे दिखाई देती हैं। कृष्ण मिलन के अवसर पर हार गिर जाने पर अपनी माँ से जितनी चातुरी-पूर्ण बातें सूर की राधा ने की, उतनी औरो को आती भी

१. मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० १६४।

नही होगी। और फिर ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो सूरदास की राधा विद्यापति की राधा से कही अधिक विदग्ध होनी चाहिए।

प्रथम मिलन का यह अनुराग क्षणिक विरह की अवस्था को भी सभाल नही पाता। राधा एक ओर भारतीय गृहस्थ कन्या की तरह पारिवारिक मर्यादा की सीमाओ मे अपने को बाँधती है, दूसरी ओर मुरली की मादक संकेत-सूचक ध्वनि उसके चित्त को व्याकुल कर देती है। इस विचित्र दुःख का कहीं अन्त नही, वंशी के उच्छ्वास विष की तरह प्राणो को अचेत बना देते हैं। आँखें चाहकर भी कृष्ण को नही देखती, कही और देखना पडता है वह घर मे भी धीरे पैरो से चलती हे, बार-बार भगवान् से प्रार्थना करती है कि उसकी लज्जा की रक्षा करे.—

कि कहब हे सखि इह दुख ओर
वांसि निसास गरल तनु भोर
विपुल पुलक परिपूरए देह
नयन न हेरि हेरए जनु केह
लहु लहु चरण चलिए गृह माझ
आज दइव विहि राखल लाज

रूप वर्णन से उत्पन्न यह आकर्षण निरन्तर सहवास सुख के लिए बेचैन करने लगा। प्रिय के पास रहने, उसकी बातें सुनने तथा उसके प्रत्येक आचार-व्यवहार पर दृष्टि रखने की आकांक्षा अछोर रूप लेने लगी। राधा पारिवारिक मर्यादा की चहारदीवारी के भीतर अपनी बेबसी पर आठ-आठ आँसू बहाती। छल से भी कृष्ण को एक बार और देखने की साध से वह चंचल हो उठी। क्षणिक विरह की इस अपार पीड़ा मे वह मदन को संबोधित करके कहती है कि रास्ते मे आते-जाते ऐसा कौन नहीं है जो कृष्ण को नहीं देखता पर हमारा एक बार का देखना ही इतना बड़ा अपराध हो गया कि तू अपने कठोर पंचवाण से हमे निरन्त घायल कर रहा है—

पुर बाहर पथ करत गतागत
के नहि हेरत कान

तोहर कुसुम सर कतहुं न संचर
हमर हृदय पँच बान

और तब शुरू होता है दोनों तरफ से दूतियों का आगमन। दूती कामशास्त्र मे कन्या-विश्रंभण व्यापार में सहायता देने वाली बताई गई है। जयदेव या विद्यापति दोनों ने ही दूती को इसी रूप म ग्रहण किया है। ग्रियसन या कुमारस्वामी जैसे लोग दूती को गुरु या उपदेशक के रूप में मानते हैं। क्योकि उनकी दृष्टि से दूती दोनो प्रेमियों को जो ईश्वर और आत्मा के रूप मे हैं, मिलाने के लिए सचेष्ट है। किन्तु दूती का प्रतीक बहुत स्पष्ट नही है। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि रहस्यवादी साधना का प्रभाव विद्यापति पर नहीं था।

दूतियाँ राधा और कृष्ण दोनों की वैचित्यावस्था का दारुण वर्णन एक दूसरे को सुनाती है। एक तरफ राधा के अभाव में कृष्ण कालिन्दी के किनारे धूल में गिरे पड़े हैं। भुजंगिनि के दंश से पीड़ित अचेत कृष्ण तब तक होश में नहीं आ सकते जब तक दूसरे दंश की लहर उस विष को दूर नही कर देती। विरह-पीड़ा को नागिन के दंश की तरह बताना काफी महत्वपूर्ण है। परवर्ती काल में भक्त के मन में उठने वाली विरह-पीर की तुलना कई स्थानों पर नागिनि-दंश से की गई है—

जब धरि चकित विलोकि विपिन तह
पलटि आओल मुख मोरि
तव धरि मदनमोहन तरु कानन
लुटइ धीरज पुनि छोरि
फुनु फिरि सोइ नयन जदि हेरबि
पाओब चेतन नाह
भुजंगिनि दंसि पुनहि जदि दंसए
तवहिं समय विस जाह

दूसरी तरफ राधा कृष्ण की याद करके रात-दिन रोती रहती है। वह रात-दिन जगकर कृष्ण का ही नाम जपा करती है। अर्ध रात्रि के समय

विगलति-लज्जा राधा रोने लगती है। सखियाँ ज्यों त्यों उसे प्रबोधित करती हैं विरह का ताप उतना ही असीम होकर हृदय को पीडित करता है—

निस दिन जागि जपय तुअ नाम
थर थर कापि पडए सोइ ठाम
जामिनि आध अधिक जब होइ
विगलित लाज उठए तब रोइ
सखि जन जत परबोधय जाय
तापिनि ताप तर्ताहि तत ताय

स्वप्न मे भी राधा कृष्ण को नही भूलती। प्रीति के अथाह जोर से उसका चित्त जर्जर हो गया। सखियो के बीच अपने पाण्डुर कमल मुख को हाथों में छिपाकर बैठती है। नयन से अविरल अश्रु प्रवाह जारी है, उसका अन्त ही नहीं आता। वह कुहू-शशि की तरह क्षीण हो गई है—

माधव कि कहब से विपरीत
जनु भेल जरजर भामिनि अन्तर
चिर बाढ़ल तसु प्रीत
निरस कमल मुख कर अवलम्बइ
सखि माझ बइसइ गोइ
नयन क नीर धीर नहि बांधइ
पंक कमल मंहि रोइ
मरम क बोल बयन नहि वोलइ
तनु भेल कुहु ससि खीना
अवनि उपर धनि उठए न पारइ
धएल भुजा धरि दीना

राधा-कृष्ण का प्रेम महाभाव की दशा की प्राप्त होने के लिए सचेष्ट है। महाभाव उस दशा का नाम है जिसमें प्रेम दृढ़ होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव के रूप में प्रकट होता है जैसे इक्षु-बीज बोने के बाद क्रम से रस, खांड़, गुड़, चीनी, सिता (मिश्री) और सितापला में बदलता

है। उसी तरह रति से प्रेम, प्रेम से राग राग, से अनुराग आदि की उत्पत्ति होकर महाभाव उत्पन्न होता है–

प्रेम क्रमे वाड़ि हय स्नेह मान प्रणय
राग अनुराग भाव महाभाव हय
जैछे वीज इक्षुरस गुड़खण्डसार
सर्करा सिता किछरि शुद्ध मिसरि आर
इहा तैछे क्रमे निर्मल क्रमे बाड़े स्वाद
रति प्रेमादि तैछे बाड़ए आस्वाद
(चैतन्य चरितामृत)

प्रेम जब अन्तिम अवस्था को प्राप्त होता है तब उसे 'चिद्दीपदीपन' अवस्था कहते हैं अर्थात् यह प्रेमविषयोपलब्धि का प्रकाशक होता है। स्नेह जब उत्कृष्टता प्राप्ति के द्वारा अभिनव माधुर्य की सृष्टि करता है और स्वयं अदाक्षिण्य धारण करता है तब उसे मान कहते हैं। मान अगर विश्रंभण या श्रम-राहित्य को प्राप्त होता है तो उसे प्रणय कहते हैं। प्रणयोत्कर्ष के कारण अधिक दुःख भी सुखवत् मालूम हो तो उसे राग कहते हैं। जो राग नित्य नूतन मालूम हो उसे अनुराग की संज्ञा मिलती है। अनुराग अगर 'यावदाश्रयवृत्ति' होकर स्व-संवेद्य दशा को प्राप्त होकर प्रकट हो तो उसे भाव कहते हैं।[1]

---

१. आरुह्य परमां काष्ठां प्रेम! चिद्दीपदीपनः
हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते ॥
स्नेहस्तूत्कृष्टतावाप्त्या माधुर्यमान यन्नवम् ।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते ॥
मानो दधानो विस्रंभं प्रणय प्रोच्यते बुधैः ॥
दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते ।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते ॥
सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम् ।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुरागो इतीर्यते ॥
अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः ।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेत्ति भाव इत्यभिधीयते ॥
(उज्ज्वल नीलमणि)

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी 'उज्ज्वल नीलमणि-किरण' मे लिखा है कि जहाँ कृष्ण से प्राप्त सुख में क्षण भर के लिए भी असहष्णुतादि होती है वही रूढ़ महाभाव है। करोड़ ब्रह्माण्डगत समस्त सुख भी जिसके सुख का लेशमात्र भी नही होता, सारे बिच्छुओं-सर्पो के दंशन भी जिस दु.ख के लेश मात्र का अनुभव नही करा सकते, कृष्ण के मिलन-विरह का यह सुख और दु:ख जिस दशा मे प्राप्त होता है उस दशा को ही 'अधिरूढ महाभाव' कहते हैं।

राधा का प्रेम इसी अधिरूढ़ महाभाव की दशा को प्राप्त था। वह कृष्ण के वियोग में तडफड़ा कर गिर पड़ती थी और घटो मुख नीचे किये आँसू गारा करती थी। वह लम्बी साँसे लेती, पृथ्वी पर लोटती, उसकी दशा को कोई समझ नही पाता।

लोटइ धरनि धरनि धर सोइ
खने खने साँस खने खन रोइ
खने खने मुरछइ कंठ परान
इथि परकी गति दैव से जान
हे हरि पेखलौ से वर नारि
न जीवइ बिनु कर परस तोहारि

और तब इस विरह के बाद स्नेह प्रणय का रूप ग्रहण करता है। वर्षों की साधना फलवती हुई। दुख के बाद सुख के दिन आए। राधा कृष्ण के मिलन की रात में गोपियों ने गाया—

सुन्दरि चललिहु पहु घर ना
चहु दिसि सखी सब कर धर ना
जाइतहु लागु परम डर ना
जइसे ससि कांप राहु डर ना
जाइतहि हार टुटिए गेल ना
भूखन बसन मलिन भेल ना

रोए रोए काजर दहाए देल ना
अदकंहि सिंदूर मेटाए देल ना
भनइ विद्यापति गोश्रोल ना
दुख सहि सहि सुख पाश्रोल ना

राधा को प्रिय-मिलन का यह सुख आकस्मिक रूप से प्राप्त नही हुआ। उसे इसके लिए अपना सब कुछ लुटा देना पड़ा। उसने निरन्तर अश्रु-प्रवाह से अपनी आँखों का काजर धो डाला, नाना प्रकार के दुःखों को सहन करने के बाद यह सुख प्राप्त हुआ। राधा का प्रेम विद्यापति के ही शब्दों मे वह कुन्दन है जो दुःसह आँच में तप तपकर निरन्तर चमकीला होता गया। इसीलिए इस कष्टप्राप्य मिलन के समय उसके हृदय का उल्लास भय-मिश्रित आशंका से पूरित हैं। कवि ने इस उल्लास को स्पष्ट करने के लिए जिस प्रकार के शब्द, छन्द, और भाषा का प्रयोग किया है, वह पूर्णतः उपयुक्त और सार्थक है। प्रथम मिलन के अवसर पर राधा के चित्त में उठने वाले भय को कवि ने वैसा ही वर्णन किया है जैसा कामशास्त्र में प्रथम मिलन के अवसर पर नवोढ़ा के चित्त में उठने-वाली आशंकाओं का वर्णन किया गया है। किन्तु विद्यापति का वर्णन उक्त परिपाटी का अन्धानुकरण नही करता। उनके वर्णन में अपनी एक अलग मौलिकता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। प्रिय समागम के अवसर पर राधा कृष्ण के स्पर्श से कमलपत्र पर संस्थुलित जल-बूँद की तरह कांप उठी, विद्यापति कहते है कि अग्नि जलाती है; पर अग्नि की आवश्यकता किसे नहीं होती :—

जइसे डगमग नलिनि क नीर
तइसे डगमग धनि क सरीर
भन विद्यापति सुनु कविराज
आग जारि पुनु आगि क काज

निचली पंक्ति अपभ्रंश के एक दोहे से बहुत साम्य रखती है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के एक अपभ्रंश दोहे में यही भाव व्यक्त किया

गया है। प्रेमिका अपनी सखी से कहती है कि यद्यपि प्रिय अप्रियकारक है तो भी उसे आज मेरे पास ले आ, आग से घर जलता है, तो भी उस आग का काम रहता है—

विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ तो वि त आणहि अज्जु
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो ते अग्गि कज्जु

विद्यापति इस मिलन की विविध अवस्थाओ का सविस्तार वर्णन करने लगते है। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि ऐसे अवसरों पर उनका कवि कामशास्त्री का बाना भी धारण कर लेता है, वे काम का पाठ सिखाना शुरू कर देते है। किन्तु ऐसे प्रसंगो को ही उनका कृतित्व मानकर इन्ही के आधार पर उनकी सम्पूर्ण साधना पर निर्णय दे देना जल्दीबाजी होगी।

प्रथम मिलन के अनुभावों का विशद वर्णन भी प्राचीन परिपाटी से ही चलता है। किन्तु एक बात अवश्य महत्त्व की है। वह यह कि कृष्ण-मिलन के अनुभवों को सखियों के द्वारा बार-बार पूछे जाने पर राधा जिस शालीनता और शिष्टता से उन्हे उत्तर देती है, वह प्रशंसनीय है। विद्यापति की तथाकथित विदग्ध राधा कही भी मुखर नही प्रतीत होती और न तो बार-बार एक बात ही पूछे जाने पर स्वाभिमानिनी की तरह उनका तिरस्कार ही करती है। इतना ही नही कृष्ण-समागम के अनुभव के विषय में उसका उत्तर इतना मासूमियत भरा और मर्यादासंकुल है कि वह उसके व्यक्तित्व के विषय में सहज आकर्षण और मृदुता उत्पन्न करता है। वह अपनी सखी से स्वभाव-सहज मार्दव के साथ कहती है कि मै वह अनुभव तुझसे क्या कहूँ, उन्होंने हँसकर जब मेरा आलिगन किया तो मुझे लगा कि अब मेरे हृदय मे प्रेम का पौधा जो अंकुरित था आज फूलो से लद गया है। उन्होंने ज्योंही नीवी-बंध हटाया, तुम्हारी कसम, मुझे कुछ नही मालूम कि फिर क्या हुआ।

हँसि हँसि पहु आलिगन देल
मनमथ अंकुर कुसुमित भेल
जब निबि बन्ध खसाओल कान
तोहर सपथ हम किछु जदि जान

इसी भाव का एक प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक काव्यप्रकाश में संकलित है। कोई सौभाग्यवती नायिका अपनी सखी से कहती है कि हे सखि तू धन्य है जो प्रिय के संगम के अवसर की विश्वासयुक्त सैकड़ों मीठी बातें सुनाती है पर मैं तो शपथपूर्वक कहती हूँ कि प्रिय जब अपने हाथों से मेरी नीवी का स्पर्श करता है तो मुझे कुछ नही मालूम कि फिर क्या होता है—

धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विश्रब्ध चाटुकशतानि रतान्तरेषु
नीवी प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्य: शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि
(चतुर्थ उल्लास, श्लोक ६१)

मै यह नही कहता कि विद्यापति ने रति के तमाम वर्णनों में इस शालीनता का निर्वाह ही किया है। उनके ऐसे वर्णनों में कई स्थल ऐसे भी है जहाँ स्थूलता आगई है। रति प्रसंगों के बहुत भद्दे वर्णन भी दिखाई पड़ते है; किन्तु विद्यापति के वर्णनो मे कुरुचि उत्पन्न करने वाले प्रसग कम से कम मिलेंगे, वैसे हनुमान-चालीसा का पाठ करने वालों के लिए यदि हर श्रृंगारिक वर्णन ही अश्लील लगे तो इसकी दवा भी क्या है ?

मिलन से एक ओर निरन्तर सहवास की उद्दाम लालसा जाग्रत होती है दूसरी ओर प्रिय को अपना बना लेने की इच्छा-पूर्ति के कारण एक विशेष प्रकार का आत्मविश्वास और प्रिय के प्रति अगाध प्रणय की भावना का उदय भी होता है। ऐसी परिस्थितियों में सखियों के कौतुक एक खास प्रकार के रस का संचार करते है। सखियाँ बार-बार इस परिवर्तन का कारण जानना चाहती है, वह पूछती है कि तुमने कृष्ण को अपने वश मे कैसे कर लिया ? विद्यापति की राधा बहुत साफ शब्दों मे अन्तरंग सखियों से अपनी काम-कला-विदग्धता का बखान करती है। वह कृष्ण को गमार और अनभिज्ञ बताती है। कहती है :—

जे किछु कभु नहिं कला रस जान
नीर खीर दुहु करए समान

तन्हि सों कहाँ पिरीत रसाल
वानर कंठ कि मोतिय माल
भनइ विद्यापति इह रस जान
वानर मुँह कि सोभए पान

ऐसे मौकों पर विद्यापति का कामशास्त्री बहुत प्रबुद्ध नजर आता है और वे सारी दुनिया को काम-कला-रसायन बाँटने के लिए आतुर दिखाई पडते हैं। ऐसे ढंग से बाते करते है गोया उनके जैसा काम-कला पारखी कोई दूसरा मिलेगा नहीं। इसी से कभी-कभी बहुत हल्के ढंक की बाते भी करते हैं। छेडखानी, कौतुक, वाग्वैदग्ध सम्बन्धी कविताएँ इसी मनोवृत्ति की सूचक हैं। जैसे:—

अम्बर बदन झपावह गोरी
राज सुनइ छिअ चाँद क चोरी

अथवा :

बड़ कौंसलि तुअ राधे
किनल कन्हाई लोचन आधे

प्रथम समागम के अनन्तर उत्पन्न विश्रंभण ने राधा के चित्त मे अभिसार और छद्म-मिलन की प्रेरणा जगाई, विद्यापति को कौतुक का नया रास्ता मिला, उन्होंने अभिसार के प्रसंगों में अपनी चतुराई लुटाकर रख दी। अभिसार के प्रसंग में विद्यापति ने रूढियों की शरण अवश्य ली, किन्तु उनके माध्यम से उन्होंने चमत्कार उत्पन्न करने का ही प्रयत्न नहीं किया। अलंकार प्रयोग किया अवश्य किन्तु उसका उद्देश्य महत्त्वपूर्ण रहा। उन्होंने रास्तों की बाधाओं और कष्टों का वर्णन करके प्रेम को परीक्षित किया, उसके शुद्ध होने का प्रमाण उपस्थित किया। उदाहरण के लिए निचले पद में अलंकरण की प्रधानता दिखाई पड़ती है; किन्तु जरा गहराई से देखने पर मालूम होगा कि कवि का उद्देश्य अलंकरण नहीं; कुछ और ही है—

माधव धनि आएल कत भाँति
प्रेम हेम परखाओल कसौटी

भादव कुहु तिथि राति
गगन गरज घन ताहि न गन मन
कुलिस न कर मुख बंका
तिमिर अंजन जल धार धोए जनि
ते उपजावलि संका
भीग भुजग सिर कर अभिनय कर
झापल फनि मनि दीप
जानि सकल घन जे द६ चुम्बन
ते तुअ मिलन समीप
नारि रतन धनि नागर व्रजमनि
रस गुन पहिरल हार
गोविंद चरन मन कह कविरंजन
सफल भेल अभिसार

गीतगोविन्द की राधा भी 'जलधरकल्प अनल्प तिमिर' को कृष्ण समझकर बार-बार आलिंगन करती है और चुम्बन देती है—

श्लिष्यति चुम्बति जलधर कल्पम्
हरिरुपगत इति तिमिरमनल्पम्

अभिसार, प्रेम-कौतुक और प्रणय के नाना व्यापारों का यह वातावरण विद्यापति के सजीव वर्णनों से निरन्तर उल्लासपूर्ण और विकासशील दिखाई पड़ता है। मान का वैष्णव साहित्य में बड़ा महत्त्व बताया गया है। मान का दो उद्देश्य रहता है। पहला तो यह कि मान के माध्यम से प्रेमी या भक्त के मन की अनन्यता का पता चलता है। प्रेमिका यह कभी सहन नहीं कर सकती कि उसका प्रिय किसी और की ओर उन्मुख है। इस धारणा से उसके प्रेम की एकाग्रता का पता चलता है, दूसरी ओर यह मान भक्त या प्रेमी के हृदय के संकोच या स्वाभाविक क्षुद्रता का भी परिचायक है। मान के समय में नाना प्रकार के कटु-तिक्त अनुभवों को प्राप्त कर लेने के बाद प्रेमी के हृदय में विशालता या उदारता का भाव

जगता है। वह सोचता है कि उसका प्रिय सैकड़ों लोगों के प्रेम का आलम्बन बन सकता है, उससे जितना प्राप्त होता है, वही बहुत है, इस प्रकार की भावना के कारण एक ओर जहाँ प्रेमी के चित्त का परिष्कार होता है, वहीं दूसरी ओर वह प्रेम के वास्तविक अर्थ को—अपार्थिव स्वरूप को समझने में भी समर्थ होता है। विद्यापति ने मान की विविध परिस्थितियों का बड़ा सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। कृष्ण को नाना प्रकार की नायिकाओं से रमण करने वाला बताया गया है। उनके इस चंचल स्वभाव पर व्यंग्य करती हुई राधा कहती है:—

लोचन अरुन बुझल बड भेद
रयनि उजागर गरुअ निवेद
ततहि जाहु हरि न करह लाथ
रयन्हि गमाओल जन्हिके साथ
कुच कुंकुम माखल हिय तोर
जनि अनुराग राँग करु गोर

लाल नेत्रों ने आपके मन का सारा रहस्य खोलकर रख दिया है। रात्रि-जागरण का यह भेद छिपा नहीं रहा। वहीं जाइये जिसके साथ रात बिताई है। पर-नारी के कुचों पर लगा अंगराग तुम्हारे हृदय को अनुराग से उज्ज्वल बना रहा है। कृष्ण सफाई देने की कोशिश करते हैं; पर सत्य के बन्धन एक क्षण के लिए उनके अधरों को बाँध लेते है, मगर वे भी कोई नौसिखुआ थे नहीं, बोले:—

सुन सुन सुन्दरि कर अवधान
विनु अपराध कहसि काहे आन
पुजलौ पसुपति जामिनि जागि
गमन विलम्ब भेलि तेहि लागि
लागल मृगमद कुंकुम दाग
उचरइ मंत्र अधर नहि राग
रजनि उजागर लोचन घोर
ताहि लाग तोहे बोलसि चोर

राधा इतनी भोली तो थी नही कि इस बकवास को सही मान लेती, सो मान वैसे ही चलता रहा, विद्यापति ने कई पद इस मनुहार और मान की स्थिति को संभालने के लिए खर्च कर दिये। तब एक दिन कृष्ण ने इस मान को भंग करने के लिए विचित्र कौतुक किया। मुकुट उतार कर अपने घुँघुराले वालों में सीमन्त बनाया, बालों को गूँथ कर वेणी बना ली। चन्दन की जगह सिन्दूर लगाया, आँखों को काजल से आँज लिया, कुण्डल की जगह कर्णफूल धारण किया, कलाई में सोने की चूड़ियाँ पहन ली, चरणों को जावक से लाल कर लिया, कदम्ब के फूलों को छिपाकर ऊपर से कचुकी पहन ली, लाल साड़ी पहनकर, औरतों की तरह से पहले बाया पैर रखकर त्रिया-लक्षण का परिचय देते हुए, राधा के पास से वीणा बजाते हुए निकले—

राइ क निकट बजाओलि सुन्दरि
सुनइत भल गेइ साधा
ए नव यौवनि नविन विदेसिनि
आओ पुकारइ राधा
नाम गाम कह कुल अवलम्बन
व्रज आगम किए काजा
सुखमइ नाम मथुरापुर जदुकुल
गुनीजन पीड़इ राजा
धनिकह तुम्र गुन रीझि पसन्न भेल
माँगह मानस जोय
मनोरथ कर्म जाँचति जदि सुन्दरि
मान रतन देह मोय

और तब वचनबद्ध राधा उस नवीन विदेसिनी की ओर से चाहकर भी मुँह मोड़ न सकी और प्रिय आलिंगन की अजस्र धारा में मान के पाषाण गल कर बहने लगे। विद्यापति के कृष्ण भी कम मान नहीं करते, उनके मान की परुषता तो राधा के हृदय को नाना प्रकार की स्मृतियों से दग्ध

कर देती है। वह इतना कातर हो जाती है, कि प्रिय के मान मे अपने को ही दोषी समझती है : वह कहती है कि क्या मै साँझ का एकाकी तारा हूं या भादो के चौथ का चन्द्रमा—इन दोनो मे किसके समान मेरा मुख हो गया है जिसे कलकित समझकर प्रभु इधर देखते ही नही—

की हम साँझ क एकसर तारा
भादव चौथि क ससि
इथि दुहु माझ कवन मोर आनन
जे पहु हेरसि न हंसि

उपेक्षित हृदय की इस आत्मग्लानि को स्पष्ट करने के लिए विद्यापति ने जो प्रतीक प्रस्तुत किए है वे रूढ़ और प्रचलित नही है, इनके पीछे लोक-चित्त के संस्कार छिपे है, इसी कारण ग्लानि की यह व्यंजनापूर्ण प्रेषणीय और अत्यन्त मार्मिक हो सकी है। किन्तु मान मान ही था, वह टूटा और विद्यापति ने अपना कामकला का अवशिष्ट उपदेश बड़े अवसर पर सुनाना शुरू कर दिया। रति की विभिन्न अवस्था में कामशास्त्र के बताये हुए कामोत्पादक उपचार, नखक्षत, दन्तक्षत, तथा जाने कितनी मुद्राय विद्यापति ने सचित्र प्रस्तुत कर दी। उल्लास का यह वातावरण, मांसल सौदर्य के उपभोग का यह इन्द्रिय व्यापार, दैहिक स्पर्श सुख के तरलायित प्रसंग, एक-एक अंग के स्थूल और विवृत विवरण केवल इन्द्रिय-लिप्सा के परिचायक हो जाते, यदि इनके अन्त में विरहोत्पन्न आकस्मिक विश्लेष दु:ख की इतनी बड़ी अतीन्द्रिय पीडा को जगाने में समर्थ न होता। विद्यापति का प्रबुद्ध पाठक उनके इन स्थूल रति व्यापारों को कभी क्षमा न कर पाता यदि वे साध्य बनकर आते, किन्तु यह अवस्था प्रेम के एक पक्ष का परिचय देती है, उसकी पूर्णता का नही, इस मिलन-सुख के अन्तराल में विरह का इतनी तीव्र व्यथा सोई है, इसे देखते हुए पाठक इन प्रसंगों की अतिवादिता को क्षम्य मान लेता है।

विरह के चित्रण में विद्यापति बेजोड़ हैं। उनका विरह उपहासास्पद नहीं हुआ है। सूर की तरह विरह की उसासों का आधिक्य भी नही है।

इसका मूल कारण है विद्यापति द्वारा मिलन सुख की स्थूल विवृति। यह आश्चर्य की बात नहीं है। मिलन के सुख का वे इतना गाढ़ा चित्रण इसीलिए करते है कि वे विरह की काली रात्रि को अधिक स्पष्ट उभारना चाहते है। अर्थात् उनके मिलन-सयोग के चित्रो की सघनता और रग-साजी उनके विरह के पक्ष को ज्यादा स्पष्ट करने मे सहायक हुई है।

कृष्ण क्या गए राधा का सर्वस्व ही चला गया। सपने मे उसने देखा कि उसके हाथ में पारस मणि छूट गई, वह दूसरे के धन से धनवती हुई थी, जिसका धन था उसके पास चला गया। गोकुल जिस चाँद के लिए हमेशा चकोर की भाति देखता था उसी चन्द्रमा की चोरी हो गई—

सूतहु छलहुँ अपने गृह रे
निन्दइ गेलउँ सपनाई
कर सौ छुटल परस मनि रे
कोन गेल अपनाई
गोकुल चान चकोरल रे
चोरी गेल चन्दा
विछुड़ि चललि दुहुँ जोड़ी रे
जीव दइ गेल धंदा

विरह की इस अनलंकृत व्यंजना के लिए विद्यापति ने बड़े कौशल से लोक-गीतों की धुन का अनुसरण किया है। गीति-काव्य वाले निबंध में मैने बताया है कि इस प्रकार के इकहरे और अत्यन्त तीव्र भावों की व्यंजना शब्दों के माध्यम से नही हो पाती, इन्हें व्यक्त करने के लिए अत्यन्त सीधे शब्दो और अकृत्रिम प्रतीकों का प्रयोग होता है। खास तौर से लोकगीतों की धुन ही इतनी करुणोत्पादक होती है कि वह विरह की सान्द्रता और सघनता को भलीभाँति व्यक्त कर देती है। उदाहरण के लिए नीचे का गीत देखिए :—

लोचन धाए फेनायल
हरि नहि आयल रे

सिव सिव जिबओ न जाए
आस अरुझायल रे
मन करे उड़ि जाइअ
जहाँ हरि आइअ रे
प्रेम पारसमनि जानि
आनि उर लाइअ रे

अथवा :—

सखि मोर पिया
अबहु न आओल कुलिस हिया।

विरह के वर्णन में विद्यापति ने बारहमासा और षट्-ऋतु वर्णन की पद्धति को भी अपनाया है। षट् ऋतु वर्णन प्रायः संयोग शृंगार में ही प्रयुक्त होता था, विरह-वर्णन मे बारहमासा का प्रयोग होता था, किन्तु बाद में इस भेद को मिटा दिया गया और षट्ऋतु वर्णन का प्रयोग विरह मे भी होने लगा, हमने अगले अध्याय में 'प्रकृति-परिवेश' के अन्तर्गत इस प्रसंग पर विस्तार से विचार किया है।

विरह-वर्णन में सबसे महत्त्वपूर्ण होते हैं विविध संचारियों के वर्णन। संचारी भावों के वर्णन में प्रायः कवि लोग उनकी निश्चित संख्या को दृष्टि में रखकर एक ही पद में उनका प्रसंगानुकूल कथन कर देते हैं। ऐसी स्थिति में संचारियों का वर्णन कभी भी मार्मिक और हृदयस्पर्शी नही हो पाता। विद्यापति विप्रलंभ शृंगार के संचारीभावों के वर्णन में दक्ष हैं—

सखि हे कतहु न देख मधाई
काँप शरीर धीर नहिं मानस
अवधि नियर भेलि आई
मृगमद चानन परिमल कुंकुम
के गेल सीतल चंदा
पिया विसलेस अनल सों लखिये
विपति चिन्हिए भल मंदा

भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति
चित जनु झंखह आजे
पिय विसलेस कलेस मेटाएत
वालम विलसि समाजे

मैंने अभी निवेदन किया कि विद्यापति के विरह में अतीन्द्रिय पीड़ा ही नही है, यानी ऐसा नही कि उनकी राधा कृष्ण मिलन के आंगिक सुखों को कभी नही सोचती, सोचती है जैसे:—

सरसिज विनु सर सर विनु सरसिज
की सरजिस विनु सूरे
जौवन विनु तन तन विनु जौवन
की जौवन पिय दूरे

इतना होने पर भी, राधा के मन मे केवल आंगिक सुख की स्पृहा ही इतने गहन विरह का कारण नही बनती, कुछ और है जो राधा के मन को मथ रहा है :—

तेल विन्दु जैसे पानि पसारिअ
ऐसन मोर अनुराग
सिकता जल जैसे छनहि सूखए
तैंसन मोर सुहाग

सारी प्रकृति में विपत्ति के बाद सुख का आगमन होता है। निष्पत्र वृक्ष नवल पत्तों से सुशोभित हो रहे हैं लेकिन विरहिणी की आँखों में एक बार जो बरसात आई तो फिर जाने का नाम ही नही लेती—

विपत अतप तरु पाओल रे
पुनु नव नव पात
विरहिन नयन दिहल विहि रे
अविरल बरसात

राधा कुसुमित कानन को देखकर एक क्षण दोनों आँखें बन्द करके खड़ी रह जाती है, कोकिल की आवाज और भौरों की गुंजार को सुनते

ही दोनों कान बन्द कर लेती है। उसकी अवस्था का क्या कहना। रूढ़ उद्दीपनों के माध्यम से भी विद्यापति ने विरह कृशगात्री का एक सकरुण चित्र उपस्थित किया है :—

चानन भेल विषम सर रे
भूषन भेल भारी
सपनहु हरि नहि आयल रे
गोकुल गिरिधारी
एकसरि ठाढ़ि कदम तर रे
पथ हेरति मुरारी
हरि विनु हृदय दगध भेल रे
झामर भेल सारी

राधा की इस अपूर्व विरह दशा को विद्यापति भी सँभालने में असमर्थ है। लगता है उन्होंने विरह के आरम्भिक पद मात्र काव्य-रूढि-निर्वाह के लिए लिखे थे; किन्तु तभी उनके हृदय को किसी परिस्थिति ने सहज विरह-पीड़ा से भर दिया और तब विरहिणी राधा के रूप में जिस विरह-पीड़ा की धारा बह चली, वह विद्यापति के हाथ से भी छूट गयी। कवि ने लिखा है कि मैं राधा का कभी प्रबोधन नहीं कर सकता, मदन-सर-धारा में बहती हुई यह लड़की हमारे बचाये नहीं बच सकती—

माधव कत परबोधब राधा
हा हरि हा हरि कहतहि वेरि वेरि
अब जिउ करब समाधा
धरनि धरिये धनि जतनहि वइसइ
पुनहिं उठए नहि पारा
सहजहिं विरहिनि जग महँ तापिनि
वौरि मदन सर धारा
अरुन नयन नीर तीतल कलेवर
विलुलित दीघल केसा

नन्दिर बाहर करइत संसय
सहचरि गनतहि सेसा

राधा के विरह में सचमुच विद्यापति ने अपना हृदय निकाल कर ही रख दिया है। यह विरह पीड़ा इतनी अनन्तव्यापिनी और इतनी शुभेच्छा-पूर्ण है कि इसकी बराबरी का कोई और वर्णन कठिनाई से प्राप्त होगा। राधा कृष्ण के लिए अपनी इस अवस्था में भी हजारों शुभेच्छाएँ भेजती हैं, वे जहाँ भी रहें सुख से रहे, हमारा दुःख तो हमारे कर्मों का फल है। विद्यापति में विरह वर्णन की दूसरी विशेषता के विषय में भी मैं आरंभ में ही लिख चुका हूँ। यानी आशावादिता। वे इस प्रकार के कष्टों मे पडी हुई विरहिणी को सान्त्वना देते वक्त जिस प्रकार उसे प्रिय-मिलन का विश्वास दिलाते हैं, वह एकदम उनकी अपनी चीज है। विरहिणी राधा का दुःख शाश्वत है क्योकि विद्यापति काल्पनिक मिलन के मिथ्योपचार से इस दु.ख को हृदय से उतारना नही चाहते। उनके लिए यह दुःख ससार की अमूल्य निधि है, इसे योंही खो देना उन्हें स्वीकार नही। राधा अपने प्रिय की याद करते-करते 'भृंगीगति' को प्राप्त हो गई, वह स्वयं माधव हो गई है। वह अपने ही गुणों पर लुब्ध है, अपने ही विरह मे उसने अपना ही शरीर जर्जर कर डाला। राधा के लिए राधा ने सब कुछ न्योछावर कर दिया। विद्यापति कहते हैं कि जब वह प्रेम की विभोर दशा में होती है तब तो अपने को कृष्ण समझकर राधा-राधा रटती है, परन्तु जब उसे होश आता है तो फिर कृष्ण-कृष्ण की रट से प्राणों को व्यग्र कर देती है। द्विधा-अग्नि से पीड़ित राधा की यह कंचन-मूर्ति विद्यापति के आँसूओं से अभिषिक्त हुई है—

अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दरि भेलि मधाई
ओ निज भाव सुभावह विसरल
अपने गुन लुबुधाई
माधव अपरुप तोहर सनेह

अपने विरह् अपन तन जरजर
जीवइति भेल संदेह
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छल छल लोचन पानि
अनुखन राधा राधा रटइत्
आधा आधा वानि
राधा सयं जब पुनतहि माधव
माधव सयँ जब राधा
दारुन प्रेम तवहि नहि टूटत
बाढत विरहक वाधा
दुहु दिसि दारुन दहन जैसे दगधई
आकुल कीट परान
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि
कवि विद्यापति भान

मै नही जानता कि किसी दूसरे कवि ने अपनी नायिका को एक साथ इतना मासल, इतनी विदग्ध, इतनी सरल, सुन्दर, नारीत्वपूर्ण, कामिनी, सारे विक्षोभकारी सौन्दर्य-उपकरणो की मूर्ति, इतने स्पष्ट हृदय-वाली दूध की तरह स्वच्छ और स्वस्थ, पृथ्वी की गन्ध की तरह मुग्ध करने वाली, विद्युत् की तरह चंचल, धरती की तरह क्षमाशील, ग्रामीणा की तरह निश्छल, और साथ ही कीर्ति की तरह आकर्षक, शुभ्रा-ज्योति की तरह शान्तिदायिनी, विरह पीड़ित शची की तरह पवित्र, और पार्वती की तरह साधनारत बनाया होगा ।

अपरूप के कवि

शिप्ले के साहित्य-कोश में सौन्दर्य शीर्षक प्रकरण में एक बड़ी मजेदार बात कही गई है। सौन्दर्य के विषय मे शास्त्रीय मतों की संकुलता की ओर सकेत करते हुए कहा गया है कि 'सौन्दर्य का पथ सिद्धान्तों की कब्रों से घिर गया है। किन्तु प्रेतात्मायें चलती भी है और जबकि रास्ता कुहरे से ढका हो तो यह फर्क करना बहुत कठिन हो जाता है कि कौन जिन्दा है और कौन मुर्दा।"[1] वस्तुतः सौन्दर्य जैसी वस्तु की परिभाषा करना कठिन ही नही असंभव है। लेकिन असंभव को भी संभव बनाने का प्रयत्न मानव की प्रवृत्ति है, ऐसी अवस्था में यदि सिद्धान्तों का बवन्डर या तर्को का जाल लक्ष्य-वस्तु को लक्षणों की कुहेलिका में समेट ले तो क्या आश्चर्य। इसीलिए हजारों वर्ष पहले प्लेटो ने सौन्दर्य की परिभाषा बताते हुए कहा था कि अगर कोई वस्तु सुन्दर है तो इसका केवल एक ही कारण हो सकता है कि वह अत्यन्त सुन्दर है। सौन्दर्य की व्याख्या नही हो सकती, उसका विश्लेषण नही किया जा सकता, वह अनुभव की वस्तु है, उसमें रमा जा सकता है।

सौन्दर्य वस्तु का नहीं व्यक्ति का धर्म है जो इसे सोचता है, समझता है। ऊपर से देखने पर यह विचार बहुत विचित्र मालूम हो सकता है, किन्तु इसमे सत्य है। यदि ऐसा न होता तो हर सुन्दर वस्तु बिना किसी अन्तर के प्रत्येक मनुष्य को सुन्दर प्रतीत होती, पर ऐसा नही होता। प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने सौन्दर्य के विषय में कहा है कि यह वस्तु का गुण नही है यह केवल उस मस्तिष्क मे विद्यमान रहता है जो उन वस्तुओं के बारे मे सोचता है। इस प्रकार सौन्दर्य मूलत. वैयक्तिक या व्यक्तिनिष्ठ

. 1 Dictionary of world literary terms, Page 36

(Subjective) गुण है। जो कोई वस्तु व्यक्ति को आनन्द प्रदान कर सके वह सुन्दर कही जा सकती है। इसी प्रयोजन के कारण सौन्दर्य के विषय में विविध प्रकार के विवाद चलते हैं। क्योंकि यदि सौन्दर्य की परिभाषा करना कठिन है तो उस आनन्द की परिभाषा तो और भी कठिन है जो उस वस्तु के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होता है।

कवि या कलाकार के लिए सौन्दर्य का दुहरा महत्व है। एक तो यह कि वह वस्तु के सौन्दर्य के प्रति या अपनी सौन्दर्य-प्रिय रुचि के कारण किसी खास वस्तु के प्रति अधिक जागरूक होता है। वह वस्तु के बारे में अधिक गहराई से सोचता है। दूसरे इस अनुभूत सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने के लिए उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि उस वस्तु के सौन्दर्य को सही-सही व्यक्त कर सके। इसी कारण कवि का उत्तरदायित्व दुहरा हो जाता है। संसार इतना सीधा या सरल नहीं है। प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार की गति या संघर्ष है। एच० एच० परखूरष्ट (H. H. Purkhurast) ने लिखा है कि कला का मुख्य ध्येय अपने शब्दों के माध्यम से विश्व-जनीन संघर्ष को प्रतिध्वनित करना है। वह प्रत्येक वस्तु सुन्दर है जो किसी सफल माध्यम के सही प्रयोग से उत्पन्न होती है, जो उसे व्यक्त करता है।[1] यहाँ पर लेखक ने सौन्दर्य को अभिव्यक्ति में निहित बताया है।

इस प्रकार यह निश्चित करने के लिए कि किसी कवि ने सौन्दर्य का वर्णन कैसा किया है हमें मूलतः दो वस्तुओं पर विचार करना होगा। पहला यह कि सौन्दर्य के विषय में कवि की रुचि कैसी है। अर्थात् वह कैसे विषयों को और कितनी बारीकी से चुनता है। कवि के इस चुनाव में कितना आभिजात्य है, कितना परिष्कार है। दूसरे यह कि वह व्यक्तव्य वस्तु को किस प्रकार प्रेषणीय बनाता है, उसकी भाषा, शैली, उपमान, आशय सभी मिलकर उसके सौन्दर्य-बोध का परिचय देते हैं।

1. The function of art, of all art is the echo in its own terms, the universal conflict. Any thing is beautiful that results from successful exploitation of a medium that exhibits. (Beauty, 1930)

विद्यापति वस्तुतः सौन्दर्य के कवि हैं। सौन्दर्य उनका दर्शन है, सौन्दर्य उनकी जीवन-दृष्टि। इस सौन्दर्य को उन्होंने नाना रूपों में देखा था, इसे कुशल मणिकार की तरह उन्होंने चुना, सजाया, सँवारा और आलोकित किया था। सौन्दर्य मन को कितना भाव-विह्वल और एकोन्मुख कर देता है इसे विद्यापति जानते थे। इसीलिए उन्होंने प्रायः 'अपरूप' या सौन्दर्य की अतिशयता को एक सजीव पदार्थ के रूप में ग्रहण किया है। जब वे राधा या कृष्ण के रूप का वर्णन करने लगते हैं तो सचेष्ट रूप से इतना कहना नही भूलते कि इस 'अपरूप' ने सम्पूर्ण त्रिभुवन को विजित कर लिया है, यह अपरूप किसी भी चित्त को चंचल कर सकता है। किसी भी ज्ञानी को क्षुब्ध कर सकता है—

सुधामुखि के विहि निरमल बाला
अपरूव रूप मनोमय मंगल
त्रिभुवन विजयी माला

'माधव की कहब सुन्दरि रूपे, सजनी अपरूप पेखल रामा, ए सखि पेखलि एक अपरूप', आदि पंक्तियों से आरम्भ होने वाले बीस से अधिक गीतों में इस अपरूप सौन्दर्य के माया-संकुल प्रभाव की निगूढ़ व्यंजना की गई है।

इस सौन्दर्य का प्रभाव विश्वव्यापी है। इसके सम्पर्क में आने पर विश्व की सभी वस्तुयें सुन्दर हो जाती हैं। जायसी के पदमावत में पद्मावती के सौन्दर्य को लोग पारस-रूप कहते हैं। पद्मावती के दिव्य रूप के स्पर्श से सभी वस्तुएँ अभिनव सौन्दर्य को धारण करती है। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने इस पारस रूप की प्रशंसा करते हुए लिखा है[1] कि "पारस रूप वह है जिसके स्पर्श से यह सारा संसार रूप ग्रहण करता है। पद्मावती मे वही पारस रूप है। पद्मावती के रूप वर्णन के बहाने भक्त कवि ने वस्तुतः भगवान् के प्रभाव का वर्णन किया है। पद्मावती ने मानसरोवर मे स्नान करते समय जरा-सा हँस दिया और फिर :—

१. मध्यकालीन धर्म साधना पृ० २०६।

नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर समीर

हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर

विद्यापति की राधा का अपरूप भी यही पारस रूप है। आश्चर्य तो यह देखकर होता कि जायसी से सौ वर्ष पहले विद्यापति ने जिस पारस रूप का चित्रण किया, उसपर लोगों का ध्यान नही गया। इसे विद्यापति का अभाग्य ही कहें। विद्यापति की राधा वह अपूर्व सौन्दर्य-मणि है जिसकी प्रभा से सभी पदार्थ प्रकाशित होते है—

जहाँ जहाँ पग-जुग धरई, तँहि तँहि सरोरुह भरई
जहाँ जहाँ झलकत अंग, तँहि तँहि विजुरि तरंग
कि हेरल अपरूप गोरि, पइठल हिय माहि मोरि
जहाँ जहाँ नयन विकास, तँहि तँहि कमल परगास
जहाँ लहु हास सँचार, तँहि तँहि अभिय विथार
जहाँ जहाँ कुटिल कटाख, ततँहि मदन सर लाख
हेरइति से धनि थोर, अब तिन भुवन अगोर
पुनु किए दरसन पाव, दय योहे इह दुख जाब
विद्यापति कह जानि, तब गुने दैवब आनि

एक बार थोड़ी देर के लिए उस गोरी के जिस अपरूप को देखा, उसी से तीनों भुवन भरा मालूम होता है, उसके मधुर हास का एक कण जैसे सारी पृथ्वी पर अमृत बिखेर देता है। यह राधा का पारस रूप जिसे विद्यापति ने सम्पूर्ण श्रद्धा और हृदय की पवित्रता से निर्मित किया है, इसमें जो लोग शृंगार का पार्थिव रूप-चित्रण मात्र खोजना चाहें, उन्हे कौन रोक सकता है, किन्तु विद्यापति का यह वर्णन राधा के सौन्दर्य की दिव्यता का प्रकाशक भी है, इसमें सन्देह नही। विद्यापति के द्वारा चित्रित सौन्दर्य की दिव्यता और पवित्रता की बात करके मैं उनकी मासल सौन्दर्य-सृष्टि का मूल्य घटाना नहीं चाहता। वस्तुतः सौन्दर्य-लोभी कवि कभी भी रहस्यवादी हो ही नहीं पाता, उसके मन के कुछ क्षणों में ऐसी प्रवृति उत्पन्न हो सकती है जब वह सुन्दर वस्तु के गुण-धर्म पर मुग्ध होकर उसके

उद्दीप्त स्तर का चित्रण करे और उसमें दिव्यता (Divinity) लाने का कुछ प्रयत्न भी करे परन्तु अधिकांशत· वह सौन्दर्य को यथार्थ जगत् के बीच में ही देखना पसन्द करता है। वाल्मीकि, कालिदास या रवीन्द्रनाथ आदि जो भी सौन्दर्य प्रेमी कवि है, वे सजग रूप से अपनी सौन्दर्य-सृष्टि को पृथ्वी पर ही रखना चाहते है अर्थात् उसमें यथासभव यथार्थ का आधार रखते है किन्तु कभी-कभी कवि विशेष की प्रवृत्ति इतनी अन्तर्मुखी होती है कि वह प्रत्येक वस्तु मे किसी अदृश्य रूप की कल्पना करने लगता है। वस्तुओ का व्यापक आधार उसके लिए 'किसी अदृश्य' की लीला-भूमि प्रतीत होने लगता है, ऐसी दशा में जब वह प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है तो वह उसे मायाविनी कहता है, उसके आकर्षक रूप-जाल में न फँसने की जागरूकता उसे कुछ हद तक रहस्यवादी बना देती है जैसा कि प्राय. रवीन्द्र या अन्य रहस्यवादियों के काव्य में दिखाई पड़ता है। विद्यापति कालिदास की प्रवृत्ति के कवि थे। यह बात दूसरी है कि कालिदास जितनी मौलिकता या नवीनता उनमें नहीं है। इसका मुख्य कारण तत्कालीन काव्यशैली में ही ढूँढा जा सकता है, जिसमें नवीन उद्भावनाओं पर कम कवि-प्रसिद्धियों और रूढ़ उपमानों पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा था। विद्यापति ने दोनों प्रकार के चित्रण किए है, बहुत से चित्रण उनकी अपनी उद्भावनों से अनुप्राणित है बहुत से प्रचलित परिपाटी का निर्वाह-मात्र करते हैं।

प्रथम प्रकार के चित्रण की विशेषता कवि के रुचि की कारण ही उत्पन्न होती है। सौन्दर्य के बारीक पक्षों को स्पष्ट करने के लिए नये दृश्य-विधान और अप्रस्तुतो का प्रयोग किया गया है। यह कह सकना तो मुश्किल है कि ये प्रयोग विद्यापति के बिल्कुल मौलिक हैं, हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमे किसी प्रसिद्ध रूढ़ि का या किसी प्रसिद्ध कवि की उक्ति की छाया नही है। मध्यकालीन काव्य मे मौलिकता ढूँढ़ने का यह तरीका ठीक नही है। क्योकि मौलिकता वस्तुओं के लिये नये उपमानों को ढूढ़ने में नही बल्कि पुराने उपमानो को नये तरीके से कहने में दिखाई

पड़ती है। उदाहरण के लिए आँखों की उपमा भ्रमर से दी जाती है। मुख और आँख के एकत्र चित्रण में मुख को कमल और आँखो को भ्रमर कहते है। किन्तु यह दृश्य का बारीक चित्रण नही कहा जा सकता। विद्यापति पहले तो मुख की छवि को अभिधार्थ में ही व्यक्त करने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। साधारण से साधारण शब्द जैसे नगीने की तरह जड़े होते हैं। सुन्दर मुख और सुन्दर आँखें—विद्यापति कहते है

सहजहि आनन सुन्दर रे
भौह सुरेखलि आँखि

मुँह तो 'सहज' सुन्दर है। सौन्दर्य का सबसे बड़ा गुण उसकी सहजता है। यह विशेषण विद्यापति ही दे सकते हैं। और आँखे जो भौहो से सुरेखित है। 'भौह सुरेखलि' आँख का प्रयोग ध्यान देने लायक है। विद्यापति को अब भी सन्तोष नही हुआ। मुख को कमल की तरह कह सकते है, और आँखो को भ्रमरों की तरह। किन्तु क्या 'भ्रमर' कह देने मात्र से चंचल बरौनियों वाली चपल आँखों की विशेषता का पूरा बोध हो जाता है? शायद नहीं। इसलिए विद्यापति ने लिखा है:—

पंकज मधु पिवि मधुकर रे
उड़ए पसारलि पांखि

चंचल भ्रमर स्वभाव वश और आशंका से (यौवन के आगमन पर भय-आशंका का संचारी स्वतः उदित होता है) इस मधु को पीते हुए भी उड़-जाने की मुद्रा में पांखों को फैलाये हुए है—युवती की आँखें जैसे सुदूर गगन में उड़ जाना चाहती है। विद्यापति इस रूप के स्वभाव की व्यंजना भी अत्यन्त हल्के ढंग से किन्तु अतीव गहन व्यंजना के साथ प्रस्तुत करते हैं:—

ततहिं धाओल दुहु लोचन रे, जतहि गेलि बर नारि
आसा लुबुध न तेजए रे, कृपनक पाछु भिखारि

जैसे आशा लुब्ध भिखारी कृपण का पीछा नही छोड़ता, वैसे उस सुन्दरी के पीछे-पीछे रूप-लुब्ध आँखे दौड़ गई। कृपण संबोधन में नारी के रूप-शील की ओर संकेत है।

उपमानों का प्रयोग विद्यापति के काव्य में अत्यन्त रूढ ढंग से हुआ है। किन्तु कवि को जैसे इन उपमानों मे आसक्ति नही है चूकि वह जिस वस्तु का वर्णन करना चाहते है, उसके लिए इन उपमानो का प्रयोग होता आ रहा है, इसलिए उन्होने भी किया, किन्तु उनके मन में निरन्तर यह शंका है कि शायद यह माध्यम उपयुक्त नही है, वह रूप इससे ऊपर की वस्तु है, इसे इन शृंखलाओ मे बाँधना ठीक नही। इसीलिए प्रायः वे विरोधाभासो या प्रतीपों का प्रयोग करते हैं। उनका एक बहुत प्रसिद्ध गीत नीचे उद्धृत किया जाता है—

तोहर वदन सम चाद होअथि नहि
जइयो जतन विहि देल
कए वेरि काटि बनाओल नव कय
तइयो तुलित नहि भेल
लोचन तूल कमल नहि भय सक
से जग के नहि जाने
से फेरि जाय लुकायल जल भए
पंकज निज अपमाने

इतना सब होते हुए भी उन्होने पुराने उपमानों का स्वच्छन्द व्यवहार भी किया है। विद्यापति की इन वर्णनों को समझने के लिए कवि-प्रसिद्धियों और कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अप्रस्तुतो की पुरानी परिपाटी को समझना आवश्यक हो जाता है।[1] नखशिख वर्णन में उन्होने सर्वत्र इसी पिटी हुई परिपाटी की शरण ली है। किन्तु विद्यापति ने इन रूढ उपमानों को भी नये ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने दृश्य के रूप, गुण और वर्ण तीनों ही दृष्टियों से अप्रस्तुतो के निर्वाचन मे अपनी सहज प्रतिभा का परिचय दिया, है। उदाहरण के लिए शरीर के वर्णन के लिए चन्द्रकला, शिरीषमाला विद्युल्लता, तारा, कनकलता, दीपशिखा आदि प्रयोग साहित्य-शास्त्र मे

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका के परिशिष्ट में कवि प्रसिद्धियों पर विचार किया गया है।

रूढ माने गए हैं।[1] विद्यापति ने भी शरीर के लिए इन्ही का प्रयोग किया है :—

(१) मेघमाल संय तडित लता जनि (पदावली[2], पद २८)
(२) जनि विजुरी रेह (पद २९)
(३) कनक लता अरविन्दा (पद १९)
(४) कनक लता अवलम्बन ऊअल (पद १८)

मुख की उपमा सर्वत्र चन्द्रमा या कमल से दी जाती है। विद्यापति ने भी प्राय: सर्वत्र उन्हीं उपमानों का प्रयोग किया है। केशो की उपमा शास्त्रकारो की दृष्टि से अन्धकार, शैवाल, मेघ, मयूरपुच्छ, भ्रमर-श्रेणी,, चामर, यमुना-तरंग, नीलमणि, नीलकमल, आकाश, धूप, धूप का धूआ इत्यादि से दी जानी चाहिए।[3]

(१) चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख ससि डर रोवए अँधारा (पद २३)

(२) केस निगारइत बह जल धारा
चामर गरए जनि मोतिय हारा (पद २५)

(३) चिकुर गरये जल धारा
मेह वरिस जनु मोतिम हारा (पद २४)

(४) अलकहिं तीतल तँ अति शोभा
अलिकुल कमल बेढ़ल मधुलोमा (पद २५)

(५) तापर सापिनि झापल मोर (पद ३६)

इसी प्रकार आँखों की उपमा भ्रमर, मृग-नेत्र, कमल-पत्र, मत्स्य, खंजन, मेघ, चकोर आदि से दी जाती है। विद्यापति ने आँखों की उपमा प्राय: उपर्युक्त सभी उपमानों से दी है।[4] आँखो की उपमा यमुना-तरंग या केवल तरंगों से भी दी जाती है।[5]

---

१. अलंकार शेखर १३।१
२. पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी—सम्पादित।
३. कवि कल्पलता।
४. अलंकार शेखर १३।६
५. वही १३।१५

(१) कुटिल कटाख लाट पडि गेल
मधुकर डम्बर अम्बर लेल (पद ३०)

(२) लोचन तूल कमल नहिं

(३) तापर चंलल खंजन जोर (पद ३६)·

(४) बादल लोचन चोर
पिया मुख रुचि पिबए धाओल
जनि के चांद चकोर (पद ३८)

(५) सावन घन सम झर दु नयान (पद ४०)

(६) नीर निरंजन लोचन राता
सिंदुर मंडित जनु पंकज पाता (पद २५)

स्नान के बाद लाल हुई आँखो की उपमा केवल कमल-पत्र से नही दी। वैसे कमलपत्र भी लाल हो सकता है। किन्तु यहाँ श्वेत कमल-पत्र जो सिन्दूर मंडित हो ऐसा कहा। क्योकि आँखें निरन्तर लाल नही रहती। श्वेत आँखे सद्यःस्नान के बाद लाल हैं। यह लाली सिन्दूर की तरह है। सिन्दूर शब्द का प्रयोग करके नायिका के सौभाग्य और सौन्दर्य का भी संकेत दे दिया है।

वराह मिहिर ने वन्धुजीव के समान लाल और अमांसल अधर को प्रशस्त बताया है। इन गुणों को ध्यान में रखकर अधरो के लिए प्रवाल, बिम्बफल, बंधूक पुष्प, पल्लव तथा मीठे पदार्थों से उपमा देने की प्रथा है।[1]

(१) विमल बिम्ब फल जुगल विकास (पद ३६)

(२) अधर बिम्ब अधजाई (पद १०)

(३) अधर बिम्ब सन दसन दाडिम विजु (पद १२)

अधरो के बारे में विद्यापति बहुत जागरूक नहीं है। वे तो मुख का वर्णन करने के बाद अधर, चिबुक और कंठ की बात छोड़कर कुचों के बारे मे वर्णन करने लगते है। कुचो की उपमा देने में तो विद्यापति बेजोड़ है।

---

१. अलंकार शेखर १३।७

जाने कितनी प्रकार की उपमाये खटाखट उपस्थित होती चली आती है। यह उनके नखशिख वर्णन का सबसे आकर्षक और सबसे अधिक निर्बल पक्ष है। इसके वर्णन मे उन्होने जाने कितने गीत लिख डाले। कुचों की उपमा के लिए संस्कृत आलकारिको ने कुछ रूढ उपमान माने है। जैसे पूगफल, कमल, कमल कोरक, विल्व, ताल, गुच्छ, हाथी का कुंभ, पहाड़, घड़ा, शिव, चक्रवाक, सौवीर, जम्बीर, वीजपूर, समुद्र, छोलंग आदि।[1] वराहमिहिर ने वर्तुलाकृत घन, अविषम, और कठिन उरोजों की प्रशंसा की है।[2]

(१) पीन पयोधर दूबरि गता
मेरु उपजल कनक लता (पद १०)

(२) कुच जुग परसि चिकुर फुनि परसल
ता अरुझायल हारा
जति सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चांद विहुन सब तारा (पद ११)

(३) मेरु उपर दुइ कमल फुलाइल (पद १२)

(४) जुगल सैल सम हिमकर देखल (पद १३)

(५) काम कम्बु भरि कनक संभु परि
डारत सुरसरि धारा (पद १८)

(६) कुच उग कमल कोरक जल मुदि रहु (पद २०)

(७) कुच युग चारु चकेवा (पद २३)

(८) माजि धएल अनु कनक मुकूरे
तेइ उदसल कुच जोरा
पलटि बैठाओल कनक कटोरा (पद २४)

(९) सजल चीर रह पयोधर सीमा
कनक वेल जनि पड़ गेल हीमा (पद २५)

(१०) कुच जुग अरविन्द (पद २९)

---

१. वही पृ० ४९।

२. वृहद् संहिता ७०।६

(११)· कनक कमल हेरि काहे न लोभि (पद ३०)

(१२) कुच कुम्भे कहि गेल अप्प आस (पद ३०)

(१३) अम्बर विघटु अकामिक कामिनि

कर कुच झापु सुछन्दा

कनक संभु सम अनुपम सुन्दर

दुई पंकज दस चन्दा (पद ३१)

यही नही विद्यापति कुचों के विकास की संलक्ष्य करके भी अपनी उपमाओं की करामात दिखाते है। ऐसे स्थलों पर रूढ़ उपमाओ से उन्होंने आकार की दृष्टि से विकास-सूचक स्थितियो की कल्पना की है।

पहिल बदर कुच पुन नवरंग

दिन दिन बाढ़ए पिड़ए अनंग

से पुन भये गेल बीजक पोर

अब कुच बाढ़ल सिरफल जोर

वेर, नारंगी, वीजपूर तथा श्रीफल से इस क्रमिक विकास की सूचना दी गई है। लहराते हुए श्वेत आचल से अनाच्छादित कुचों के लिए यह उपमा कितनी सुन्दर है। जैसे शरद के श्वेत घन पवन से पराभूत होकर पर्वत को व्यक्त करने के लिए विवश हो जायें—

उरहि अंचल झापि चंचल

आध पयोधर हेरु

पौन . पराभव सरद घन जनि

वेकत कएल सुमेरु

संस्कृत आलंकारिकों ने नाभि और कटि के सौन्दर्य के विषय मे बताया है कि दक्षिणावर्त नाभि प्रशस्त होती है इसके लिए रसातल, कूप, आवर्त, . झील या ह्रद आदि की उपमायें चलती है।[1] नाभि के पास की हल्की श्यामल रोमावलियो का वर्णन की कवि लोग करते है। इसकी मृदुता, श्यामता, सूक्ष्मता और नाभिगामिता को सुन्दर कहा गया है। नाभि के निचले भाग को बलि कहते है, त्रिबली का वर्णन कवि लोग करते हें

१. **अलंकार शेखर १३।१०–११।**

इसकी उपमा लता, सोपान, नदी-तरंग, श्रेणी आदि से दी जाती है। कटि के वर्णन में सूई की नोक, शून्य, अणु, सिंह की कटि, आदि उपमान गृहीत होते हैं। विद्यापति के कुछ प्रमुख प्रयोग नीचे दिये जाते हैं–

(१) कनक कदलि पर सिंह समारल (पद १२)

(२) गरु नितम्ब भर चलए न पारए
माझ खानि खीनि निमाई
भागि जाइत मनसिज धरि राखल
त्रिवलि लता अरुझाई (पद १३)

(३) नाभि विवर संय लोम लता वलि (पद १४)

(४) केहरि सम कटि गुन अछि सजनि गे
लोचन अम्बुज धारि
विद्यापति कवि गाओल सगनि गे
गुन पाओल अवधारि (पद १६)

जाँघों की उपमा कनक-कदली से बहुत रूढ हो गई है। चरण-तल कमल, पल्लव, किसलय, स्थल-पद्म से उपमित होते हैं। नाखूनों की उपमा चन्द्रमा से या ललाई की दृष्टि से प्रवाल से दी जाती है। नारी की गति के लिए हंस, हाथी आदि की चाल से उपमा दी जाती है। चरणो के जावक या महावर के वर्णन में उषा की लाली, अग्नि शिखा, पलाश पुष्प आदि की उपमाये दी जाती हैं। विद्यापति ने इन्ही उपमाओ का सहारा लिया है।

(१) पल्लवराज चरन जुग सोभित
गति गजराज क भाने (पद १२)

(२) विपरित कनक कदलि तर सोभित
थल-पंकज के रूप दे (पद १३)

(३) हस्ति गमन जका चलइत सजनि गे
देखइति राजकुमारि (पद १६)

(४) चरन जावक हृदय पावक (पद ३२)

(५) तखन मदन सर पूरए रे

गति गंजए गजराज (पद ३२)

(६) जहाँ जहाँ पग धरई

तहिं तहिं सरोरुह भरई (पद २५)

(७) कमल जुगल पर चांद का माला

(पैर और नख ज्योति, पद ३६)

विद्यापति के नखशिख-वर्णन की उपर्युक्त विवेचना से इतना स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सर्वत्र प्रायः प्रसिद्ध रूढ़ियों या कवि समयों का प्रयोग किया है। एक बात अवश्य है कि उन्होंने इन रूढ़ उपमानों का प्रयोग करते वक्त भी एक आभिजात्य का परिचय दिया है। उन्होंने रूढ़ियों को अतिमात्रा में प्रयुक्त नहीं किया है इसीलिए उनके वर्णनों में रीतिकालीन कवियों के ऊहात्मक चित्रण कम से कम मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। दूसरी ओर राधा के सौन्दर्य-चित्रण में उन्होंने निरन्तर इस बात का ध्यान रखा है कि यह चित्रण कुरुचि उत्पन्न न करे। कहीं-कहीं वर्णन की विवृत्ति भी दिखाई पड़ती है, किन्तु ऐसे स्थलों पर नाक-भौं सिकोड़ने के पहले ख्याल रखना चाहिए कि यह वर्णन चौदहवीं शताब्दी के एक कवि ने प्रस्तुत किये हैं जिस काल में इस प्रकार के चित्रण उपेक्षणीय या वर्ज्य नहीं थे। बीसवीं शताब्दी की मर्यादा का चश्मा लगाकर इन कवियों की रचनाओं में नैतिकता-अनैतिकता का सवाल उठाना बहुत उचित नहीं है। सब कुछ होते हुए भी, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उपमाएँ प्रायः अत्यन्त आकर्षक और वर्ण्य वस्तु के सौन्दर्य को उद्घाटित करने वाली होती हैं। ऊपर के उदाहरणों में यदा-कदा मैंने संकेत दिये हैं। विद्यापति के इस गुण को संलक्ष्य करके बँगला के प्रसिद्ध समालोचक श्री दिनेशचन्द्र सेन ने लिखा है कि 'भारतवर्ष में उपमा का यश केवल कालिदास को प्राप्त है। यदि किसी द्वितीय व्यक्ति का नाम लेना हो तो किसी को विद्यापति के नाम पर आपत्ति नहीं होगी। विद्यापति की राधा सौन्दर्य-समूह की चित्रपटी है। उनके विरह के अश्रुओं से सिक्त होकर कवि की कविता, उपमा और सौन्दर्य सब कुछ नवल मेघ की आभा धारण करता है।"[१]

---

१. **बंग-भाषा ओ साहित्य, पृ० २२४।**

मानवीय सौन्दर्य के इस चित्रण के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है। यदि विद्यापति वैष्णव कवि थे या कम से कम उनके मन में कृष्ण-भक्ति-भावना का लेश भी वर्तमान था तो उन्होंने इस प्रकार के रूपासक्ति-पूर्ण चित्रण क्यों प्रस्तुत किये। पिछले अध्याय में हम इस समस्या पर संक्षेप में विचार कर चुके हैं। विनयकुमार सरकार ने कुमारस्वामी की मान्यताओं का कि राधाकृष्ण का प्रेम रहस्यवादी है—खण्डन करते हुए यही प्रश्न उपस्थित किया था। उन्होंने लिखा है कि 'राधाकृष्ण प्रेम की पार्थिवता, शारीरिक सौन्दर्य के मासल चित्रण, तथा शृंगार के कलुषित ऐन्द्रिक चित्रों मे हम किसी भी प्रकार की दिव्यता नहीं पाते। कुमार-स्वामी ने अपने को भ्रम मे भुलाया है।'[१]

सूरदास के चित्रणों को, जो राधा और कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य का अति मांसल वर्णन प्रस्तुत करते हैं और जो प्रायः विद्यापति की शैली के सदृश या संभवतः उसी से प्रभावित होकर नखशिख-वर्णन की उसी प्राचीन रूढ़ि परिपाटी में लिखे हुए है, हम शृंगारिक या भक्तिहीन क्यों नहीं कहते? इसलिए कि उन्होंने अपने को कृष्ण का भक्त कहा है। यदि ऐसी बात है तो विद्यापति ने भी अपने को राधा और कृष्ण का भक्त बताया है। वस्तुतः यह विवाद ही मिथ्या है। वैष्णव कवि बहुत पहले से रूपासक्तिपूर्ण काव्य लिखते आ रहे है। नखशिख वर्णन कभी भक्ति में बाधक नहीं हुआ है।

द्विवेदी जी ने अपने निबंध 'वैष्णव कवि की रूपोपासना' में एक स्थान पर लिखा है कि 'वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज समझता है। जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है, अर्थात् जब रूप मोहन हो उठता है, जहाँ सारी चित्त-वृत्ति मुग्ध हो जाती है, वही उसकी भक्ति शुरू हो जाती है। कवि वैष्णव (बिहारी आदि) कल्पना के ऊँचे स्तर पर पहुँच कर रुक जाते हैं जहाँ वह हतचेष्ट हो जाती है, मुग्ध हो जाती है। भक्त वैष्णव और आगे बढ़ता है और अपनी चरम उपासना आत्म-निवेदन में

2. Love in Hindu liter atuie 1916, Page 20-21

अपना सर्वस्व आहुति कर देता है।"[1] मैंने विद्यापति के 'अपरूप' के सिल-सिले में कहा था कि वह पार्थिव सौन्दर्य से ऊपर की वस्तु है। (विद्यापति इस अपरूप को ही अपना ईश्वर मानते हैं, अपनी सिद्धि मानते हैं। वे इस अपरूप के सामने समर्पण नहीं कर देते बल्कि इसे जानने की निरन्तर अतृप्त इच्छा से चालित रहते हैं। उनकी सौन्दर्य-कल्पना न तो विहारी आदि की तरह थकती है और न तो सूर की तरह समर्पण कर देती है। विद्यापति रूप के सजग द्रष्टा हैं) बहुत से आलोचक नखशिख वर्णन को हेय दृष्टि से देखते है क्योंकि उसमे मानव सौन्दर्य का खण्डशः वर्णन ही प्रस्तुत हो पाता है। यह धारणा उचित नही है। (विद्यापति ने सौन्दर्य के प्रत्येक पक्ष का—स्थूल दृष्टि से कहें तो नखशिख का वर्णन सौन्दर्य को खण्डित करके नहीं बल्कि उसके प्रत्येक हिस्से को उद्भासित करके उसकी समग्रता का बोध कराने के लिये किया है; प्रकृति के सर्वोत्तम पदार्थों से नारी के शरीर के प्रत्येक अंग की समता नहीं श्रेष्ठता दिखाकर कवि उसके पार्थिव रूप को और भी अधिक शालीन और स्वस्थ ढंग से उपस्थित करना चाहता है। मैंने शुरू में ही कहा कि विद्यापति रूप के पार्थिव बन्धन में बँधे हुए कवि नही हैं, यदि वे मांसल रूप के बन्धन में बँधे होते तो जन्म भर उसे देखते हुए भी अतृप्ति की बात न करते। वस्तुतः वे इस तमाम खण्डित रूप-तत्त्वों के बीच प्रवहमान अखण्ड रूप-तत्त्व के दर्शन की कामना लेकर चले थे।)

प्रकृति-परिवेश

प्रकृति पुरुष की चिर सहचरी है। मांनव-जीवन को नाना रूपों में प्रभावित करने वाली, उसे चेतना और प्रेरणा प्रदान करने वाली मायाशक्ति के रूप में प्रकृति की भारतीय वाङ्मय में अभूतपूर्व अभ्यर्थना हुई है। प्रकृति और पुरुष के युगनद्ध रूप में दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्तुलन तथा सहयोग में जीवन की समफलता बताई गई है। मनुष्य अपने व्यक्तिनिष्ठ स्वार्थ से वशीभूत होकर जब जब प्रकृति को पराजित करने के उद्देश्य से परिचालित हुआ है तब तब उसकी शान्ति और समृद्धि का ह्रास हुआ है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है, उसके साधन में अहंकार का त्याग आवश्यक है, जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते।" भारतीय कवियों ने इस सत्य को सदा स्वीकार किया था। परिणामतः ऋग्वैदिक मंत्रों से लेकर वर्तमान युग के गीति-काव्यों में इस प्रकृति की शान्ति, समृद्धि और शक्ति का मनोरम चित्रण भरा हुआ है।

(विद्यापति के काव्य में भी यह प्रकृति अत्यन्त सजीव रूप में उपस्थित हुई है। प्रकृति या वातावरण के प्रति जागरूकता कलाकार का एक अनिवार्य गुण-धर्म है। इस जागरूकता के आधार पर ही हम कलाकार के प्रकृति-पर्यवेक्षण का मूल्यांकन कर सकते हैं। प्रकृति के चित्रण में लेखक की रुचि और संस्कार का बहुत बड़ा असर होता है। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को अपने-अपने ढंग से देखता है। चिर नावीन्य का अर्थ ही है दृष्टिकोण की भिन्नता और उसका क्षण-क्षण परिवर्तिन एक ही कवि किसी वस्तु को एक क्षण में 'कुछ' देखता है और किसी

दूसरे क्षण में कुछ। प्रकृति का यह निरीक्षण लेखक के सौन्दर्य बोध (Sense of beauty) से निश्चित अनुचालित होता है। मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्रियों ने इसी आधार पर सौन्दर्यशास्त्र के दो मुख्य उद्देश्य बताये हैं। पहला सौन्दर्य का उपभोग और उससे आनन्द की उपलब्धि, दूसरा सौन्दर्य का निर्माण यानी कला को जन्म देने वाली भावना (Art impulse) । इस प्रकार सौन्दर्य बोध के वास्तविक विश्लेषण का अर्थ है कलाकार की सौन्दर्य-ग्राहिका प्रवृत्ति का विश्लेषण। प्रवृत्ति का पता दो प्रकार से चलता है। खास वस्तुओं में लेखक की दिलचस्पी से और प्रकृति के प्रति या सौन्दर्य के आधार के प्रति उसकी जागरूकता से। दिलचस्पी या किसी खास वस्तु के प्रति लेखक की रुझान की जानकारी उसकी रुचि का पता देती है। प्रत्येक मनुष्य उत्तम से उत्तम सौन्दर्य की वस्तु से केवल उतना ही आनन्द प्राप्त कर सकता है जितना उसकी योग्यता या पात्रता के द्वारा प्राप्त हो सकता है। कवि या कलाकार की श्रेष्ठता इसी बात में निर्भर करती है कि वह सौन्दर्य के किस रूप की, और कितने ऊँचे स्तर के रूप की अभ्यर्थना करता है। यही पर कलाकार के लिए कल्पना और यथार्थ का प्रश्न उपस्थित होता है। विश्व में उपलब्ध सौन्दर्य हमारी व्यक्तिगत सीमाओं के कारण हमें खण्डशः ही प्राप्त होता है या जो कुछ प्राप्त होता है वह हमारे सम्पूर्ण आदर्श के सामने खण्डित ही प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था मे कवि या लेखक कल्पना के आधार पर इसे पूरा करने का, अपनी रुचि और कलात्मक रुझान के मुताबिक सम्पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न करता है। कान्ट ने इसी आधार पर कल्पना को एक व्यापक अर्थ प्रदान करते हुए कहा कि 'कल्पना एक दूसरी प्रकृति का निर्माण करती है, उन्ही तमाम साधनों से, जो उसे वास्तविक प्रकृति द्वारा प्राप्त होते हैं। अपनी रुचि और समझ के मुताबिक कवि भावो के नाना रूपों की सहायता और कल्पना के उन्मुक्त प्रयोग के आधार पर एक ऐसी पूर्ण वस्तु का निर्माण करता है जिसके समानान्तर कोई दूसरी वस्तु प्रकृति मे उपलब्ध नही हो सकती।'

सौन्दर्य-बोध की उपयोगिता के बारे में आध्यात्मवादी आलोचकों ने एक दूसरे ढंग से भी विचार किया है उनका कहना है कि प्रकृति अराजकता का समूह नहीं है, उसके प्रत्येक स्पन्दन मे एक निश्चित नियम या ऋत की प्रेरणा कार्य करती है। कवि या लेखक प्रकृति के अन्दर निहित इसी सत्य का अन्वेषण करता है। प्रकृति स्वतः यह महत् कला है। साहित्य ससीम और असीम के बीच की कड़ी है। कवि अपनी सीमित शक्ति से प्रकृति के खण्डशः प्रस्तुत चित्रों के माध्यम से अखण्ड सत्ता की अभिव्यक्ति करता है। कवि प्रकृति की सारी सम्पदा को अपना साधन बनाकर सार्वभौम अदृश्य सत्ता को व्यक्त करता है। विद्यापति ने प्रकृति के नाना उपकरणो को—उसके सौन्दर्य के विविध आकर्षणों को इसी दृष्टि से देखा था। 'मध्ययुगेर वैष्णव साहित्य' में श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि "चण्डीदास दुनिया के ऊपर के पक्षी हैं, जहाँ लौकिक सौन्दर्य बिखर जाता है, किन्तु वहाँ स्वर्ग छूता है, विद्यापति दिन भर धूप से स्नात गुफाओ, पुष्पित उद्यानों मे घूमते है और शाम को उनकी लालसा इतनी ऊपर उठ जाती है कि वे प्रथम कवि को लाँघ जाते हैं।" प्रकृति विद्यापति के काव्य में दो प्रकार से उपस्थित होती है। एक तो वह आलम्बन या वर्ण्य विषय के रूप में दिखाई पड़ती है, कहीं वह मात्र उद्दीपन बनकर आती है। हमारे देश में ऋतुओं का विवरण प्रकृति के समष्टिगत विवरण में प्रासंगिक रूप से किया जाता था। वैदिक मंत्रों में ऋतु या प्रकृति का चित्रण आलम्बन के रूप में ही होता था, वह स्वयं वर्ण्य थी, आकर्षण और सौन्दर्य की अधिष्ठात्री होने के कारण। यह बात दूसरी है कि सर्वत्र वैदिकऋषि आह्लादयुक्त भाव से ही उसका चित्रण नहीं कर पाता था। उसे प्रकृति के उग्र रूप का अनुभव था, और इस प्रचंड-भीमा प्रकृति की उग्रता से भयातुर होकर भी वह उसकी स्तुति करता था। वाल्मीकि के काव्य में भी प्रकृति प्रधान रही। कालिदास तो निसर्ग के कवि ही कहे जाते हैं। कालिदास के ऋतुसंहार काव्य को देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि प्रकृति उनके लिए मानवीय रति या श्रृंगार के उद्दीपन का मात्र

साधन बनकर ही नही रह गई है, फिर भी उसमें स्वाभाविकता और यथार्थ का अभाव दिखाई पड़ने लगता है। वस्तुओं के विवरण में रूढ़ियों का प्रभाव गाढ़ा होने लगा था। शुक्ल जी का अनुमान है कि उद्दीपन के रूप में प्रकृति के चित्रण की परिपाटी तभी से आरम्भ हुई है। उन्होंने लिखा कि ऐसा अनुमान होता है कि "कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले से ही दृश्यवर्णन के सम्बन्ध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल वर्णन में तो वस्तु-वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन मे चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओ का कथन-मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है कि ऋतुवर्णन वैसे ही फुटकल पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे जैसे 'बारह-मासा' पढ़ा जाता है।"[1]

षड्ऋतु और बारहमासा

अभाग्यवश मध्यकालीन काव्य में प्रकृति-चित्रण का रूप अत्यन्त कृत्रिम और रूढ़िग्रस्त हो गया। षड्ऋतु के वर्णन में कवि की दृष्टि प्रकृति के यथार्थ रूप पर आधारित न होकर आचार्यो द्वारा निर्मित नियमों और कवि-समयों से परिचालित होने लगी। कवियों के लिये बना बनाया मसाला दिया जाने लगा, उनका कार्य केवल घरौंदे बना देना रह गया। काव्य-मीमांसा में काल-विभाग के अन्तर्गत इस प्रकार का पूरा-विवरण एकत्र मिल जाता है। राजशेखर ने तो यहाँ तक कह दिया कि देश-भेद के कारण पदार्थों में कहीं-कहीं अन्तर आ जाता है किन्तु कवि को कवि-परम्परा के अनुसार ही वर्णन करना चाहिए। देश के अनुसार नही।[2]

देशेषु पदार्थानां व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य
तन्न तथा बध्नीयात्कविबद्धमिह प्रमाणं नः

अर्थात् कवि की अपनी अनुभूतियों और निरीक्षण-उपलब्धियों का कोई मूल्य नहीं।

---

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, काशी, सम्वत् २००२ पृ० २१।
२. काव्य मीमांसा, पटना, १९५४ पृ० २६२।

विद्यापति के पहले इस काव्य प्रकार में कई रचनायें लिखी गई हैं। ब्रजभाषा की अवहट्ट या पिंगल शैली में भी और आरम्भिक शुद्ध ब्रजभाषा में भी। इनमें सन्देशरासक का षट्ऋतु वर्णन, प्राकृतपैंगलम् के स्फुट ऋतु-वर्णन के पद, पृथ्वीराजरासो का षड्ऋतुवर्णन, नेमिनाथ चौपई का बारह-मासा आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण-रचनाएँ है। सदेशरासक और पृथ्वीराजरासो के षड्ऋतु वर्णन उद्दीपन के रूप में ही दिखाई पड़ते है। संदेशरासक का ऋतुवर्णन विरहिणी नायिका के हृदय के दग्ध उच्छ्वासो से परिपूर्ण है। पथिक उस प्रोषितपतिका से उसकी दिनचर्या पूछता है, वह जानना चाहता है कि कब से नूतन मेघरेखा से विनिर्गत चन्द्रमा के समान, नायिका का निर्मल वदन इस प्रकार विरह-धूम से श्यामल हो रहा है। और तब नायिका एक वर्ष पहले ग्रीष्म ऋतु में विदा होने वाले प्रियतम के वियोग का सविस्तर वर्णन सुना जाती है। सन्देश- रासक का ऋतु-वर्णन कविप्रथा के अनुसार निश्चित वस्तुओं की सूची उपस्थित करता है, इसमें शक नहीं, किन्तु जैसा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'जायसी की भाँति अद्दहमाण के सादृश्यमूलक अलंकार और वाह्य वस्तु निरूपक वर्णन वाह्यवस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह कातर विरहिणी के मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करता है।'[1]

रासो का ऋतु वर्णन यद्यपि विरहशंकिता नायिकाओं के हृदय की पीड़ा को व्यंजित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत कि II गया है किन्तु इन पदों में संयोगकालीन स्मृतियों की विवृति दिखाई पड़ती है, इसीलिए इसे हम 'संयोगकालीन उद्दीपन ऋतुवर्णन की प्रथा का ही निदर्शन कहेंगे। संयोगिता से मिलने के लिये उत्सुक पृथ्वीराज जयचन्द के यज्ञ में उपस्थित होना चाहते है, वे प्रत्येक रानी के पास विदा लेने के लिए जाते हैं, किन्तु रानियों का ऐसे ऋतु में बाहर न जाने का मधुर आग्रह वे टाल नही पाते और रुक जाते है। रासो के ऋतुवर्णन की विशेषताओ पर डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने विस्तार से विचार किया है।[2] प्राकृतपैंगलम् एक संग्रह

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, १९५२, पटना, पृ० ८४।

२. वही, पृ० ८२—८३।

काव्य है इसलिए छन्दों के उदाहरण के लिए उसमें पद्य संकलित किये गए हैं। उसमे पूर्णता के साथ षट्ऋतु वर्णन का मिलना कठिन है। किन्तु इस काव्य में स्थान-स्थान पर प्रकृति का जो चित्रण मिलता है, खास तौर से ऋतुओं का चित्रण, वह निश्चय ही किसी अज्ञात-ज्ञात काव्य के ऋतु-वर्णन प्रसंग से लिया गया है। उदाहरण के लिए वसन्त ऋतु का एक चित्रण देखिए—

> फुल्लिअ केसु कम्प तह पअलिअ मंजरि तेजिअ चूआ
> दक्खिन वाउ सीअ भइ पवहइ कम्प विओइणि हीआ
> केअइ धूलि सब्ब दिसि पसरइ पीअर सव्वउँ भासे
> आउ वसन्त काइ सहि करिअइ अन्त ण थक्कइ पासे
> (प्राकृत पैंगलम् पृ० २१२)

प्राकृत पैंगलम् के एक और पद मे (पृ० ५८७ पद २१३) ऋतु वर्णन-सम्बन्धी बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। इस पद में शिशिर के बीतने और वसन्त के आगमन का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। प्राकृतपैंगलम मे ऐसे ऋतु वर्णन वाले पदों की विशेषता यह है कि इनमें प्रकृति उद्दीपन के रूप में चित्रित होते हुए भी कालिदास के ऋतुसंहार की परम्परा म है अर्थात् केवल उद्दीपन-मात्र ही नही है, प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण भी अभीष्ट रहा है।

नेमिनाथ चतुष्पदिका[1] और नरहरि भट्ट के ऋतु वर्णन बारहमासा पद्धति में लिखे हुए हैं। नेमिनाथ चौपई में राजमती के विरह का सविस्तार वर्णन मिलता है। नेमिनाथ के वियोग में उनकी परिणीता राजमती आसाढ़ से आरम्भ करके ज्येष्ठ तक के बारह महीनों की अपनी विरह-पीड़ा तथा नेमि की कठोरता का विवरण अपनी सखि को सुनाती है। नेमिनाथ चतुष्पदिका के प्रसंग पीछे दिये हुए है। षड्ऋतु और वारहमासा सम्बन्धी रचनाये गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी की विभिन्न बोलियों में प्राप्त होती है। इन रचनाओ की वस्तु तथा भाव-धारा का विश्लेषण करने

---

१. गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, नम्बर १३, १९२६ बड़ौदा।

पर मालूम होता है कि इसमें षड्ऋतु वर्णन मूलतः संयोग श्रृंगार का काव्य है जबकि बारहमासा विरह या विप्रलंभ का। वैसे संदेशरासक में षड्ऋतु का वर्णन विरहप्रधान है जो इस मान्यता के विरुद्ध में दिखाई पडता है, किन्तु अधिकांश रचनाओं से उपर्युक्त मत की पुष्टि ही होती है। षड्ऋतु का चित्रण रासो में संयोग काव्य की प्रथा में ही हुआ है। पद्मावत में षड्ऋतु और बारहमासा दोनों ही के प्रसंग आते हैं। षड्ऋतु वर्णन खड में पद्मावती और रतनसेन के संयोग-श्रृगार का चित्रण हुआ है। ठीक उसी के बाद आने वाले नागमती वियोग खड में नागमती के विरह का वर्णन बारहमासा की पद्धति पर प्रस्तुत किया गया है। इसी को संलक्ष्य करके आ० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'प्राप्त प्रथा के अनुसार पद्मावती के संयोग सुख के सम्बन्ध में षट्ऋतु और नागमती की विरह वेदना के प्रसग मे बारहमासा का चित्रण किया गया है।'[१] नेमिनाथ चतुष्पादिका तथा नरहरि भट्ट के बारहमासे में भी वियोग-वेदना की अभिव्यक्ति की गई है। विद्यापति ने भी विरह का चित्रण बारहमासे की पद्धति पर किया है--

मोर पिया सखि गेल दुर देस
जौवन दए गेल साल सनेस
मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया विसलेस रह्यों निरथेघ
कौन पुरुष सखि कौन सो देस
करब माय तहां जोगिनि वेस

आषाढ़ के नवीन मेघों के उनय आने से प्रिय-विश्लेष-दु.ख की काली छाया निरन्तर घनी होती जा रही है और पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश को सूनी आँखों से देखते-देखते अपने ताप से जगत् को धूलिसात् कर देने वाला ज्येष्ठ आ जाता है। विद्यापति ने अत्यन्त कौशल से विरह की इस करुण वेदना को बारहमास में अंकित किया है।[२] सूरदास ने बारहमासे की शैली

१. चिन्तामणि, द्वितीय भाग, सम्वत् २००२ काशी पृ० २६।
२. विद्यापति पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित, द्वितीय संस्करण, पृ० २७१।

में अलग से कोई काव्य नहीं लिखा, किन्तु गोपी-विरह में इस शैली की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। ब्रजभाषा के परवर्ती लेखकों ने षड्ऋतु और बारहमासे की पद्धति में कई काव्य लिखे। सेनापति (सम्वत् १६४६) का ऋतुवर्णन अपनी अत्यन्त सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण की कुशलता तथा भाषा से स्वाभाविक प्रवाह के लिए प्रसिद्ध है। सम्वत् १८८८ में सुन्दर कवि ने तथा १८११ में हंसराज ने बारहमासों की रचना की।

इन बारहमासों में प्रकृति का चित्रण प्राय. आषाढ़ मास से आरम्भ होता है। षड्ऋतु में ऋतु का प्रारम्भ ग्रीष्म ऋतु से दिखाया जाता है। ऋतु संहार में इसी पद्धति को अपनाया गया था। किन्तु इन नियमो के अपवाद भी कम दिखाई नहीं पडते है। उदाहरण के लिए गुजराती मे अठारहवी शती में लिखा इन्द्रावतीकृत षड्ऋतु वर्णन वर्षा से आरम्भ होता है। उसी प्रकार गुजराती के दूसरे कवि श्री दयाराम ने सम्वत् १८४५ मे लिखे गए षड्ऋतु विरह वर्णन काव्य में ऋतु का आरम्भ वर्षा से किया है।[१] षड्ऋतु में जायसी ने ऋतु का आरम्भ वसन्त से किया है–[२]

प्रथम वसन्त नवल ऋतु आई सुऋतु चैत बैसाख सुहाई
चंदन चीर पहरि धरि अंगा सेंदुर दीन्ह विहंसि भर मंगा

सन्देशरासक में षड्ऋतु वर्णन का आरम्भ ग्रीष्म ऋतु से ही होता है। बारहमासे प्रसंग में आषाढ़ से आरम्भ की पद्धति प्रायः सर्वमान्य दिखाई पड़ती है।

कविप्रिया मे केशवदास ने १०वें प्रभाव में बारहमासा का वर्णन चैत्र से किया है, जो फाल्गुन में समाप्त होता है। ७वे प्रभाव में षड्ऋतु का वर्णन वसन्त ऋतु से हुआ है।[३] अलंकारशेखर में १६वें मरीचि में

---

१. गुजराती साहित्य नां स्वरूप, पृ० २५८–६०
२. जायसी ग्रन्थावली, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, १९८१ सम्वत्, षषड्ऋतु वर्णन खंड दोहा ५।
३. कविप्रिया, केशव ग्रन्थावली खंड १, सम्पादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग १९५४, पृ० १५७–१६० तथा १३६–१३८।

षड्ऋतु वर्णन सुरभि ऋतु यानी वसन्त से ही शुरू होता है।[१] वैसे भी इस देश मे नव वर्ष का आरम्भ भिन्न-भिन्न महीनो में माना जाता है। राजशेखर के अनुसार ज्योतिषशास्त्रवेत्ता सम्वत्सर का आरम्भ चैत्र मास से यानी वसन्त ऋतु से तथा लौकिक व्यवहार वाले श्रावण से मानते है। 'सच चैत्रादिरिति दैवज्ञाः श्रावणादिरिति लोकयात्राविदः (काव्यमीमांसा १८ वाँ अध्याय)।' इसी आधार पर राजशेखर ने जो ऋतुओं का क्रम बताया है वह वर्षा से आरम्भ होता है। वर्षा, शरत्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म।[२] यहाँ पर वर्षारम्भ की पद्धति वही है जिसे गुजराती कवियों ने स्वीकार किया है। लगता है कि राजशेखर के काल मे भी इस क्रम में व्यत्यय होता था इसीलिए उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि ऋतुक्रम में व्यत्यय करने से कोई दोष नही पैदा होता, हाँ इतना अवश्य है कि वह प्रसंगानुकूल हो[३]

न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृशः
तथा कथा कापि भवेद् व्युत्क्रमो भूषणं यथा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम षड् ऋतु और बारहमासा के सम्बन्ध मे निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित कर सकते हैं—

(१) दोनों ही उद्दीपन के निमित्त व्यवहृत काव्य प्रकार हैं, किन्तु सामान्यतः षड्ऋतु का वर्णन संयोग शृंगार मे और बारहमासे का विरह मे होता है। इन नियमों का पालन बड़े शिथिल ढंग से होता है, अतः अपवाद भी मिलते है।

(२) षड्ऋतु वर्णन ग्रीष्म ऋतु से आरम्भ होता है, बारहमासे की पद्धति के प्रभाव के कारण कई स्थानों पर वर्षा से भी आरम्भ किया गया है। बारहमासा प्रायः आषाढ़ महीने से आरम्भ होता है।

(३) इन काव्यों की पद्धति बहुत रूढ़ हो गई है। कवि-प्रथा का पालन बहुत कड़ाई से होता है, इसलिए मौलिक उद्भावना की कमी दिखाई पड़ती है।

२. श्री माणिक्य चन्द्रकारित श्री केशवमिश्र कृत अलंकार शेखर, सम्पादक शिवदत्त, बम्बई १९२६, पृ० ५९।

३. राजशेखर, काव्यमीमांसा, पटना १९५४ पृ० २३८।

४. वही, पृ० २६३।

जैसा कि पहले ही निवेदन किया गया है, विद्यापति के प्रकृति-वर्णन दो श्रेणियों में रखे जा सकते हैं (१) वर्ण्य वस्तु के रूप में, (२) उद्दीपन के रूप में।

(प्रथम प्रकार के वर्णन में ऋतुओं का वर्णन, या प्रकृति के किसी खास रूप का वर्णन कवि ने उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हुए प्रस्तुत किया है किन्तु उसे पूर्णतया प्रकृति का आलम्बन के रूप में चित्रण नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए वसन्त का कई पदों में स्वतंत्र वर्णन हुआ है, कवि ने वसन्त को कहीं बालक रूप में, कहीं तरुण रूप में और कई स्थानों पर राजा के रूप में चित्रित किया है, ऐसे प्रसंगों में उन्होंने प्रकृति को मनुष्य की भावनाओं की दासी तो नहीं बनाया किन्तु इन वर्णनों में प्रायः मानवीय भावों का आरोप किया गया है और इनकी सुन्दरता या उन्मादकारिता का मुख्य कारण मानव हृदय को आह्लादित करने की शक्ति को ही बताता है। इसलिए वसन्त के जितने विशेषण हैं वे सभी मनुष्य के मन को प्रसन्न करने वाले गुणों के द्योतक हैं—जैसे आयल उन्मद समय वसन्त, या आएल वसन्त सकल जन रंजक, या आएल वसन्त सकल रस मण्डल आदि। हाँ, वसन्त वर्णन में अभिव्यक्त उल्लास की शक्ति को देखते हुए इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि कवि के मन में प्रकृति के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और अकृत्रिम रुझान दिखाई पड़ती है। वसन्त राजा की भाँति वनस्थली में प्रवेश करता है, राजा के सम्मान में नवोत्पन्न पत्तों ने सिंहासन स्थापित किया, कांचन कुसुमों ने माथे पर छत्र रखा, आम्र-मुकुल शिरोभूषण हुआ, पक्षी, कलकल ध्वनि में आशीर्वाद का उच्चारण कर रहे हैं, कुसुम पराग श्वेत चँदोवे की तरह छा गया। तरु ने कुन्दलता की पताकाएँ फहरा दीं।

नृप आसन नव पीठल पात
कांचन कुसुम छत्र धरु मात
मौलि रसाल मुकुल भेल ताय
सुमुख कि कोकिल पंचम गाय

सिखि कुल नाचत अलि कुल जंत्र
द्विज कुल आन पढ़ आसिख मंत्र
चन्द्रातप उड़े कुसुम पराग
मलय पवन सह भेल अनुराग
कुन्द वल्ली तरु धएल निशान
पाटल तूण अशोक दलवान

कवि वसन्त के स्वागत में मत्त मयूर की तरह नाच उठता है। इन कविताओं में प्राचीन कवियों का प्रभाव स्पष्ट है। उदाहरण के लिए जयदेव ने गीतगोविन्द में वसन्त का वर्णन करते हुए उन्मद मदन महीपति के बारे में प्रायः उपर्युक्त बातें ही लिखी हैं—

मृगमदसारभरभसवंशवद नव दल माल तमाले
युव जन हृदय विदारण मनसिज नख रुचि किंशुकजाले ।४।
मदन महीपति कनकदण्ड रुचि केसर कुसुम विकासे
मिलित शिलीमुख पाटलपटल कृतस्मर तूण विलासे ।५।
(गीतगोविन्द काव्यम्, पहला सर्ग)

वसन्त के वर्णन मे विद्यापति ने एक आत्मीयता और निकटता का भाव संयोजित कर दिया है। वसन्त उनके लिए जैसे विदेश से लौटा हुआ कोई परिजन है, स्वजन जिसके स्वागत में लाज-संकोच की आवश्यकता नहीं। वे हृदय के सम्पूर्ण उच्छ्वासों के साथ ऋतुराज के स्वागत में खड़े हैं:—

नाचहु रे तरुनि तजहु लाज
आएल वसन्त ऋतु बनिक राज

एक दूसरे स्थान पर उनकी नायिका अपनी सखियों से वसन्तराज का 'चुमावन' करने को कहती है। उसने वसन्त को बैठने के लिए नवीन किसलयों का आसन दिया, धवल कमल मांगलिक कलश के रूप में स्थापित किया। मकरन्द ही मन्दाकिनी का पवित्र जल है, अरुण अशोक के दीप जलाये। आज पुण्य दिवस है; वसन्त राज का वरण करो। पूर्ण चन्द्र

मागलिक दधि हैं, (दधि-तिलक की उपमा चन्द्रमा से दी है) भ्रमरी ने दौड़कर सबको बुलाया, किंशुक के फल ने सिन्दूर प्रदान किया, केतकी की धूल (पराग) वस्त्र की तरह छा गई,—

अभिनव पल्लव बइसक देल
धवल कमल फुल पुरहल भेल
करु मकरंद मँदाकिनि पान
अरुन असोक दीप दहु आन
माइ हे आज दिवस पुनुमन्त
करिअ चुमावन राय वसन्त
सपुन सुधानिधि दधि भय गेल
भमि भमि भमरि हँकारइ देल
टेसु कुसुम सिन्दूर सम भास
केतकि धूल विथरहु पट वास
भनइ विद्यापति कवि कंठहार
रस बुझ सिंवसिंह सिव अवतार

इस प्रकार के सांगरूपकयुक्त वर्णनों में कवि ने प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का बहुत सूक्ष्म और बिम्बग्राही वर्णन प्रस्तुत नही किया है। ऐसे प्रसंगों की विशेषता इतनी ही है कि इनके द्वारा कवि के मन का एक अद्भुत उल्लास और प्रकृति को मानवीय रूपों में देखने की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का पता चलता है। वसन्त को बालक, तरुण, दूल्हा, राजा आदि रूपों में रखकर उसका जो वर्णन किया गया है उसमें हमारे जीवन के लोकाचारों का पूरा निर्वाह किया गया है।

वसन्त के साथ कुछेक और ऋतुओं का भी स्वतन्त्र वर्णन हुआ है। पावस वर्णन में कवि ने उसकी भयंकरता का अच्छा चित्रण किया है।

आएल पाउस निविड़ अन्धकार
सघन नीर बरसय जलधार
घन हन देखियत विघटित रंग
पथ चलइत पथिकहु मन भंग

नदिया जोरा भहु अथाह
भीम भुजंगम पथ चललाह

अभिसार के प्रसंगों में कवि ने रास्ते की बाधाओं आदि के वर्णन के उद्देश्य से काली पावस रातों का प्रायः भयङ्कर वर्णन किया है। लेकिन उद्देश्य जो भी रहा हो, ऐसे वर्णनों में कवि की सूक्ष्य दर्शिता का पता भी चलता है—

जलद सरिस जलधार
काजरे रांगलि राति
भमए भजंगम भीम
पंके पुरल चौसीम
दिग मग देखिए घोर
पयर दिअ विजुरी अजोर

प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन विद्यापति के काव्य में गौण है, मुख्य है उसका उद्दीपन के रूप में चित्रण ही। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण अत्यन्त रूढ़ कवि-व्यापार है, इसमें सन्देह नही किन्तु इस परिपाटी को मानने वाले कवि के लिए उसमें नूतन आकर्षण पैदा करना बहुत कठिन होता है। विद्यापति ने इस प्रकार के वर्णनों में अपनी निरन्तर जागरूकता, सूक्ष्मदर्शिता और संवेदनशीलता का बहुत अच्छा परिचय दिया है। विरहिणी के लिए प्रिय-विरह की बरसाली रातें कितनी दारुण हैं। भादों की काली रातों में विरहिणी के दुःख की सीमायें टूट जाती हैं। वह कहती है बादलों से भरा हुआ भादों—और प्रिय से रिक्त मेरा घर, इस असीम दुःख का कहीं अन्त नहीं। कवि ने बर्षा के साथ घटित घटनाओं, बादलों की गर्जन, झंझा, शंपापात, मत्त मयूर की आवाज से उत्पन्न ध्वनियों को शब्दों में बाँध कर विरहिणी-हृदय की विभिन्न परिस्थितियों से उनकी तुलना करके सम्पूर्ण प्रकृति को व्यक्ति के दुःख में लय कर दिया है—

सखि हे हमर दुखक नहिं ओर
ई भर बादर माह भादर, सून मंदिर मोर
झपि घन गरजन्ति सन्तत
भुवन भरि बरसन्तिया

कन्त पाहुन काम दारुण
सघन खर सर हन्तिया
कुलिस कत सत पात मुदित
मयूर नाचत मातिया
मत्त दादुर डाक डाहुक
फाटि जायत छातिया
तिमिर दिग भरि घोर यामिनि
अथिर बिजुरि क पाँतिया
विद्यापति कह कइसे गमाओब
हरि बिना दिन रातिया

उद्दीपन के रूप प्रकृति के उपकरणों के प्रयोग मानवीय दु:ख की इतनी। तीव्र व्यजना शायद ही कोई कवि कर सका हो। इस पद मे कवि ने जैसे अपने हृदय की सारी घनीभूत पीड़ा को बिखेर कर रख दिया है। यह पद किसी राजा को समर्पित नही है, कवि ही इस दु:ख का एक मात्र साक्षी है। इस कविता में ध्वन्यात्मक वस्तु-व्यापार और उनका मानवीय हृदय की अवस्थाओं से समानान्तर निर्वाह अद्भुत है। बादलों से गगन भरा है, और मेरा घर सूना है। वर्षा का उद्दाम रूप, साक्षात् आँखों के सामने खडा है, चमक, छायान्धकार का नर्तन, मयूरों और दादुरों की आवाज, आँखो के पथ को घोर कालिमा से भर देने वाली रात—विरहिणी अपने पति की आने की बाट देखकर मन को झुठला भी तो नही सकती। और अस्थिर बिजली का प्रलय-नर्तन—यह सब कुछ विद्यापति के हृदय के आँसुओ मे स्नात होकर यथार्थ की अनुपम आभा धारण किए हुए हैं।

विरह वर्णन के लिए कवि ने बारहमासा की पद्धति का भी प्रयोग किया है। विद्यापति के बारसमासा का आरम्भ आषाढ से शुरू होता है। आकाश मे नवीन मेघ जलभार से झुके आ रहे है, विरहिणी का प्रिय इस दारुण ऋतु मे न जाने कहाँ है, कुछ पता होता तो शायद वह योगिनी बन कर उसे ढूँढने को निकल पडती—

मास असाढ उनत नव मेघ
पिया विसलेस रहओं निरमेघ

श्रावण में जब बादलों से भयङ्कर जल-वृष्टि शुरू हो जाती है, अन्धकार के कारण पथ तक नही सूझता, चारो तरफ बिजली की रेखायें कौधती रहती हैं, उस समय उसे अपने जीने मे सन्देह होने लगता है—

साओन मास बरसि घन वारि
पंथ न सूझे निसि अधियारि
चौदिसि देखिए बिजुरी रेह
हे सखि कामिनि जीवन संदेह

भादों की काली रातें, चारो तरफ मयूरो और दादुरों के रव से भर जाती हैं, सौभाग्यशाली युवतियाँ चौंक-चौककर अपने प्रियतम की गोद मे छिप जाती हैं। आश्विन मे वित्त व्यर्थ की आशा धारण करता है कि प्रिय आयेगे किन्तु निष्करुण नाथ सुधि तक नही लेते, सरोवर मे चक्रवाक-मिथुन क्रीडा करते हैं, किन्तु मेरे लिए यह मास ही शत्रु हो गया है। कातिक मास आया किन्तु देशान्तर से कन्त नही आया। सबके लिए नवीन चन्द्र की ये रातें सुखपूर्ण हैं किन्तु हमें तो प्रिय ने दु.ख की पीड़ा ही सौपी है। अगहन मास तो निश्चय ही इस जीव का अन्त कर देगा। मुझ अकेली रमणी को यह विरहाग्नि प्रिय के आते न आते अवश्य जलाकर क्षार कर देगी—

पूस खीन दिन दीघरि राति
पिया परदेस मलिन भेल काति
हेरओं चौदिस झंख ओ रोय
नाह विछोह काहु जन होय
माघ मास घन पड़ए तुसार
झिलमिल कंचुआ उनत घन हार
पुनमति सूतलि प्रियतम कोर
बिधि बस दैव बाम भेल मोर

फागुन मास मे धनि का जी उचाट हो गया, वह रो-रोकर पति की राह देखती रही, मत्त कोकिल ने पंचम स्वर में गाना आरंभ कर दिया। चैत में प्रिय का प्रवास चौगुना अखरने लगा, चतुर माली फूलों का विकास समझता है, नागर जन होकर भी मेरे प्रभु असयान ही रहे—

बैसाखे तवे खर मरन समान
कामिनि कन्त हरए पंचबान
न जुड़ि छाहरि न सरिस वारि
हम जे अभागिनि पापिनि नारि
जेठ मास ऊजर नव रंग
कन्त चहए खलु कामिनि संग
रूप नरायन पूरबु आस
भनइ विद्यापति बारहमास

(विद्यापति के काव्य में प्रकृति का वर्णन इन्ही दो रूपों में दिखाई पड़ता है। कवि ने विरह की अवस्थाओ मे जाने प्रकृति को कितने रूपों में देखा है, सुख के दिनों मे जो प्रकृति विद्यापति को चाँदनी के मायाजाल मे बाँधे रही, भौरों की गुंजार और फूलों की महक ने मन को उद्रेक और लालसाओं से भर दिया, उसी प्रकृति को उन्होने विरह के दिनों मे जाने कितने रूपों में रुलाया। उसपर व्यंग्य किया। किन्तु उनके मन मे इस प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम सदैव वर्तमान था।)

सामाजिक चेतना—

समाज और कवि के सम्बन्धो पर काफी वाद-विवाद हुआ है। आलोचको का एक वर्ग किसी कवि या लेखक की सफलता का सबसे बडा मानदण्ड उसकी सामाजिक चेतना को मानता है और उसके साहित्य के हर पहलू का अध्ययन समाज को परिपार्श्व में रखकर करना चाहता है। और ऐसी अवस्था मे जब समाज मे कई प्रकार की विचार-धाराये संघर्ष-रत हों, और प्रत्येक मतवाद के मानने वाले हर दूसरे को अस्वस्थ, प्रतिक्रियावादी और रूढ़ग्रस्त तथा विकास के प्रतिकूल कहते हों यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन कवि स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्तियों का पोषक है और किसने अस्वस्थ और रुग्ण मानव-मन के चित्रण में ही अपना समय नष्ट किया है। कई बार एक कवि की रचनाये भी मतवादो के इस कुहा-जाल मे पडकर नाना प्रकार की मान्यताओं का शिकार हो जाती है। उदाहरण के लिये आधुनिक युग के किसी कवि को लीजिए। उसके साहित्य के अध्ययन करने वाले किन्ही दो आलोचकों का मत मिलता नजर न आयगा। एक ही कवि की रचनाओं को कुछ आलोचक 'हाथीदाँत की मीनार' में रहने वाला, समाज से दूर और कुण्ठाग्रस्त व्यक्ति के दिमाग की उपज बतायेंगे, उन्ही रचनाओं को दूसरे आलोचक समाज की यथातथ्य प्रवृत्तियों का आईना, स्वस्थ समाज का निर्माण करने वाली और सामाजिक यथार्थ को सही रूपों मे चित्रित करने वाली बतायेंगे। आधुनिक युग के समसामयिक कवि को परस्पर-युद्धरत आलोचकों के दॉव-पेचों का शिकार होना पड़ता हो या पैंतरेबाजी मे झटका खा जाने का अंदेशा हो तो आश्चर्य नहीं; किन्तु जब यह पैंतरेबाजी किसी प्राचीन कवि के भाग्य का निर्णय करने पर तुल जाती है और उस साधक कवि के तत्कालीन समाज को

न देखकर अपने सामाजिक जीवन के चश्मे से देखा जाने लगता है, तब सही अर्थो में अनर्थ की परम्परा खडी हो जाती है। प्रसाद जी ने पिछले खेवे के सिद्धों के साहित्य को उनकी स्वच्छन्द आनन्दवादी प्रवृत्ति के कारण रहस्यवादी बताया, वे रहस्यवादी कवि को विवेक-संत्रस्त मर्यादावादी कवियों से श्रेष्ठ समझते थे, दूसरी ओर शुक्ल जी इन गुह्य साधकों को समाज-द्रोही कहते हैं। राहुल सांकृत्यायन जैसे मार्क्सवादी आलोचक सिद्धो के साहित्य को क्रान्तिकारी, रूढि-विरोधी और नवीन चेतना से पूर्ण बताते हैं। इन परस्पर विरोधी मतवादो के घटाटोप मे साधारण पाठक के लिए यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है कि ये कवि कैसे थे।

[विद्यापति को शृगारी कवि कहने वालो ने उन्हे समाज से बहुत दूर किसी लता-कुंज मे विहार करने वाला या दर्बार के वातावरण में घिरे हुए संकुचित घेरे का कवि समझ लिया। विद्यापति दरबारी कवि थे अवश्य किन्तु वे अपने चारों तरफ के वातावरण के प्रति कम जागरूक नहीं थे। यह दूसरी बात है कि उन्होंने सिद्धों या निर्गुण सन्तों, खास तौर से कबीर की तरह समाज के एक विशेष वर्ग के प्रति या उस वर्ग की मान्यताओं, रूढियों आदि के प्रति उग्र विरोध प्रकट नही किया। किन्तु किसी प्राचीन मान्यता के प्रति उग्र विरोध प्रकट करना ही सामाजिक चेतना या जागरूकता का लक्षण नही है। और न तो सामाजिक यथार्थ का मतलब वर्ग-संघर्ष की भावना का चित्रण करना ही समझा जाना चाहिए। इस कसौटी पर परखने पर बहुत से श्रेष्ठ कवि 'हाथी दाँत की मीनार' के वासिन्दे ही प्रतीत होंगे। वस्तुत इससे बड़ी कुत्सित समाजशास्त्रीयता और कुछ नही होगी कि हम किसी कवि की रचनाओं में अपनी मान्यताओं का प्रतिफलन या अपने न्यस्त अभिप्रायों का अंकन ही ढूढा करे। सामाजिक यथार्थ साहित्य में बहुत सूक्ष्म ढंग से अभिव्यक्ति पाता है। कवि राजनीतिक की तरह मतवाद का प्रचार नही कर सकता और न तो समाचार-सम्पादक की तरह किसी घटना या परिस्थिति का चित्रण ही करना पसन्द करेगा। साहित्य की अपनी मर्यादा और शैली है, उस शैली में व्यक्त सामाजिक यथार्थ को समझने में शब्दों या खास प्रकार की वस्तु को ही यथार्थ मानने-

वालो को थोडा कष्ट अवश्य होगा। विरह के गीत में वैयक्तिक मन का चित्रण ही प्रमुख होता है। इसमें भोड़ा यथार्थवाद नही मिलेगा किन्तु समझदार व्यक्ति विरहगीतो मे भी स्वस्थ और अस्वस्थ प्रवृत्तियो का भेद बता सकता है। विरहिणी नायिका का अवसाद कभी इतना व्यापक होता है कि वह सम्पूर्ण सृष्टि को अपने दु ख मे दु खी न देखकर आक्रोश से भर उठती है, या सम्पूर्ण विश्व को बुरा-भला कहने लगती है, ऐसा भी हो सकता है कि विरह मे पीड़ित नायिका अपने दु ख में इतनी घोर निराशा-वादी हो जाये कि आत्महत्या करने पर तत्पर हो जाये। दूसरी तरफ ऐसी भी नायिका हो सकती है जो अपने दु.ख मे व्यथित रहने पर भी दूसरो के दु ख मे हाथ बँटाती है, उसका निजी दुःख दूसरों के कष्टो को समझने की प्रेरणा देता है, शक्ति और उत्साह देता है। इन दोनो परिस्थितियो का अन्तर बड़े सूक्ष्म विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। ऊपर से दोनो ही चित्रणों को प्रेम वियोग कहकर सामाजिक यथार्थ का चश्मा लगाकर तिर-स्कृत किया जा सकता है। [विद्यापति ने प्रेम-विरह के चित्रण मे सर्वत्र स्वस्थ मनोवृत्ति का ही अंकन किया है, ऐसा तो मैं नही कहता, किन्तु इतना सत्य है कि विद्यापति की राधा अपने विरह में भी निराश नही है और न तो वह संसार का किंचित् भी अमगल सोच पाती है। यही नहीं जहाँ नायिका अपनी विरह की पीडा से व्याकुलित चित्त होकर अपना नाश कर देना चाहती है वहाँ विद्यापति उसे आश्वासन देते हुए उसके प्रिय के मिलने की आशा बँधाते हैं:—

सून सेज मोंहि सालए रे
पिया विनु घर मोयें आजि
विनती करौं सहलोलनि रे
मोहि देह अगिहर साजि
विद्यापति कवि गाओल रे
आइ मिलबे पिय तोर

विरह के इन गीतों में जहाँ नायिका आत्म-ग्लानि मे पीड़ित होकर हजारों तरह की परिस्थितियों की कल्पना करके अपने दुःसह दुःख की भयंकरता

से ऊब कर अनिष्ट की बात सोचती है, कवि उस प्रत्येक परिस्थिति में-सखी के मुख से पथिक के मुख से या स्वयं कवि-मुख से आश्वासन के दो शब्द, आशादायक दो बातें अवश्य कहते है। विद्यापति के इन गीतों को गाकर जाने कितनी प्रोषितपतिकायें सुदूर कर्मरत अपने प्रेमियों, पतियों के विश्लेष दु:ख को सँभालने में समर्थ हुई होगी। ऐसे गीतों को स्वस्थ प्रवृत्तियो का विकास न कहकर और क्या कहा जायेगा ?]

[विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने विरहिणी नायिका के दु:ख का चित्रण करते वक्त उसे रानी या राजकुमारी की भूमिका मे नही रखा है, जो उनके लिए ज्यादा उचित और उस वातावरण के अनुकूल होता। कवि ने नायिका के रूप मे एक ऐसी नारी की कल्पना की है जिसके चारों तरफ शील और मर्यादा की बाड़ लगी है, परिवार है, सासु और ननद की पहरा देती आँखें है। ऐसी अवस्था में नायिका अपने पति से मिलने के लिए जो कुछ कहती है, वह भारतीय गार्हस्थिक मर्यादा के भीतर ही।]

[विद्यापति की रचनाओ में यथार्थ के अन्य रूपों का भी बड़ा बारीक चित्रण हुआ है। तत्कालीन कुरीतियों आदि पर कवि ने बड़ा तीखा व्यंग्य किया है। उनकी आँखों के सामने होने वाली अजीब घटनाएँ उन्हें आक्रोश से भर देती है; किन्तु विद्यापति ने विडम्बना-पीड़ित नायिका पर या उसके पति पर व्यंग्य नही किया है, वे समाज की उन रूढियो पर व्यंग्य करते है। ऐसी परिस्थिति में ऐसे कार्यो के लिए उत्तरदायी ही दोषी है। विद्यापति ऐसे लोगों पर क्रोध नही करते, बड़े हँसमुख ढग से वे उनके मर्म पर प्रहर करते है। युवती लड़की की शादी बालक पति से हो गई, आगे क्या हुआ, यह उन्ही के मुख से सुनिये:—

पिया मोर बालक हम तरुनी
कौन तप चुकलौंह भेलौंह जननी
पहिर लेल सखि एक दछिन क चीर
पिया के देखैते मोर दगध शरीर
पिया लेली गोद कै चललि बजार
हटिया के लोग पूछे के लागु तोहार

नहि मोर देवर कि नहि छोट भाइ

पुरुब लिखल छल बालमु हमार

बाट रे बटोरिया कि तुहु मोरा भाइ

हमरो समाद नैहरे लेले जाउ

कहिहुन बाबा के किनए धेनु गाइ

दुधवा पियाइ के पोसता जमाईं

लड़की के बाप पर कैसा तीखा व्यंग्य है। लड़की अपने बाप से कहती है कि अपने इस जमाई के लिए दूध पीने को गाय भिजवा दो.. विद्यपति ने लड़की के मूर्ख बाप की भर्त्सना नही की, उसे बेवकूफ नही कहा और न उसका समाज के लोगो द्वारा उपहास कराया, व्यंग्य किया कितना तीखा और मार्मिक।

यथार्थ की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति उनकी कूटनी नारी पर लिखी कविता में हुई है। यह सत्य है कि उस कविता में आर्थिक वैषम्य या दीनता का जिक्र वैसा नही है जैसा कि आजकल की यथार्थवादी कही जाने वाली कविताओं में होता है। यह संभव भी नही था क्योंकि चौव्हवी शताब्दी के एक कवि को न तो आजकल का यह बुद्धिवादी वातावरण प्राप्त था न उसके सामने वर्ग-संघर्ष की वर्तमान परिस्थियाँ ही स्पष्ट थी। इसी कारण इस कविता में दुःख की अभिव्यक्ति है, लेकिन दूसरे तरह से। कामकला के प्रचार ने जिस प्रकार के छिछले प्रणय का प्रचार किया उसमें कुटनी नारी या शिष्ट शब्दों में दूती का महत्त्व था। यह दूती केवल प्रेमी-प्रेमिकाओं के स्वाभाविक प्रेम-व्यापार में ही सहायता नही देती थी बल्कि नागरजनों की काम-वासना की तृप्ति के लिए नाना प्रकार के जाल फेंककर भोली-भाली मूर्ख लड़कियों को फँसाने का भी कार्य करती थी। एक ऐसी ही दूती जो अपने सम्पूर्ण यौवन-काल को इस प्रकार के छल-छद्म पूर्ण प्रेम-व्यापार या व्यवसाय में व्यतीत कर चुकी है, वृद्धावस्था आने पर अपने पूर्व जीवन के प्रति विरक्ति या निराशा से भर उठती है। कूटनी औरतें न केवल पर नारी को लोभादि दिलाकर फँसाने का ही कार्य

करती थी बल्कि स्वयं भी एक प्रकार से वेश्या का जीवन व्यतीत करती थी। विद्यापति ने एक ऐसी ही वृद्धा कूटनी का चित्रण इन शब्दों में उपस्थित किया है—

हम धनि कूटनी परिनत नारि
बैसहु वास न कहौ विचारि
काहु के पान काहु दिअ सान
कत न हकारि कएल अपमान
कय परमाद धिया मोर भेल
आहे यौवन कतय चल गेल
भाँगल कपोल अलक भरि साजु
संकुल लोचने काजर आजु
धवला केस कुसुम करु वास
अधिक सिगार अधिक उपहास
थोथर थैया थन दुहुँ भेल
गरुअ नितम्ब कहाँ चलि गेल
यौवन सेस सुखायेल अंग
पाछु हेर विलुलइते अनंग
खने खस घोघट विघट समाज
खने खने अब हकारलि लाज
भनहिं विद्यापति रस नहिं छेओ
हासिनि देइ पति देवसिंह देओ

वयस और स्थान का बिना विचार करके बात करने वाली मैं कूटनी वृद्धा हूँ, किसी को पान देती हूँ किसी को इशारा करती हूँ। जाने कितने लोगो को बुलाकर मैंने अपना अपमान किया है। मेरी लड़की को मेरे चरित्र के कारण जाने कितने प्रकार के प्रवादो का सामना करना पड़ा है। मेरा यौवन चला गया, सूखे गालों को मैं अलको से ढँकती हूँ, धँसी हुई आँखों को अंजन से छिपाती हूँ, धवल बालों को फूलों से सुवासित करती हूँ, जितना ही अधिक शृंगार करती हूँ, उतना ही अधिक उपहास होता है।

यौवन के प्रतीक कुच थोथर होकर लटक गए। नितम्बों की गुरुता लुप्त हो गई। यौवन शेष हुआ, अंग सूख गए, अनंग पीछे भूमि पर लोट रहा है। दुष्टो के समाज में जब भी घूँघट गिर पडता है, क्षण-क्षण मैं लज्जा को पुकारती हूँ, पर वह दूर चली गई है, विद्यापति कहते हैं कि रस को (यौवन को) इस तरह नष्ट नही करना चाहिए।

विद्यापति ने समाज मे कुत्सित जीवन व्यतीत करने वाली इस नारी का चित्रण कितनी सहानुभूति से किया है। सहानुभूति ऊपर से लादी हुई नही है। आप उसकी आत्म-ग्लानि और अपने किये हुए कार्यो पर पश्चा-त्ताप की भावना के कारण अपनी सहानुभूति देने के लिए विवश है। वह अपने चरित्र के कारण अपनी लडकी पर लगाये जाने वाले प्रवादो से दुःखी है, वह जानती है कि यौवन-च्युत नारी का यह कृत्रिम शृंगार उसका उपहास करता है, परन्तु वह अपनी परिस्थितियों के कारण विवश है, कवि ने आर्थिक परिस्थितियो का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए भी इस ओर काफी साफ ढंग से संकेत कर दिया है।

विद्यापति के कृष्ण नंदराजा के राजकुमार नही, ग्वाल थे, इसलिए विद्यापति ने जिस वातावरण मे उन्हे उपस्थित किया है, वह उसी के उपयुक्त है। राधा कृष्ण पर व्यंग्य करती हुई कहती है कि कैसा मूर्ख है यह कृष्ण, कही कौड़ी से घोडा खरीदा जाता है या उधार मांगने से घी मिलता है? बैठने का स्थान नही, खाने को व्यंजन मांगता है। आज तो बड़ा मजा आया। कान्हा का मिथ्या गौरव चूर-चूर हो गया। आकर पाँव के पास प्वाल पर बैठ गया। बेचारा पूछने लगा, शय्या कहाँ लगी है। पास में फटी हुई चटाई है और मन में पलंग। अहीरिनियों के नाथ की बात ही क्या कहना :—

कउड़ि पठओले पाव नहि घोर
घीव उधार माँग मति भोर
बास न पावए माँग उपाति
लोभ क रासि पुरुष थिक जाति

कि कहब आज कि कौतुक भेलि
अपदहि कान्ह क गौरव गेलि
आयल वैसल पाँव पोआर
सेज क कहिनी पूछये विचार
ओछाओन खण्डतरि पलिया चाह
आओर कहब कत अहिरिनि नाह
भनइ विद्यापति पहु गुनवन्त
सिरि सिवसिह लखिमा देइ कन्त

विद्यापति की सामाजिक चेतना का परिचय एक और प्रकार से मिलता है। उन्होंने सारे अभिजात प्रयोगो के बावजूद कई स्थानो पर घोर ग्राम्य या लोक प्रसूत प्रयोग किये है। ऐसे प्रयोगो से कवि की पैठ और बात-चीत की स्वाभाविकता को ग्रहण करने की कोशिश का पता चलता है। मुहावरे और कहावतो के प्रयोग में विद्याबति ने कमाल कर दिया है। खास तौर से ये प्रयोग राधा तथा अन्य गोपियो की बात-चीत मे दिखाई पड़ते है। लोक प्रयोग प्राय: स्त्रियों के वार्तालाप मे ज्यादा सुरक्षित रहते भी है। उदाहरण के लिए थोड़े से प्रयोग नीचे दिये जाते है—

सखि हे बूझल कान्ह गोआर
पितरक टॉड़ काज दुहु कओन लहु
ऊपर चकमक सार

कान्ह बिल्कुल गँवार है यह मैने आज जाना। पीतल का टॉड़ (आभूषण) ऊपर से सोने का मुलम्मा। यह चमक दमक से कोई काम सरने वाला नही।

तोहर वचन कूप धँस जोरल
ते हम गेलिहुँ अबाटे
चन्दन भरम सिमर आलिगल
सालि रहल हिय काँटे

तेरी झूठी बातो मे पड़कर मै कुएँ मे कूद पड़ी, बेराह चली। चन्दन के भ्रम से मैने सेहुँड़ को छाती से लगाया, 'हृदय में काँटे साल रहे है।

सुजन क वचन खोट नहि लाग
जिन दृढ करु आलका दाग

सुजन के कडे वचन मे कभी कभी नही जाता जैसे अच्छी तरह लगाया हुआ आलता (ऐपन) का दाग जल्दी नही छूटता।

मानिनी गोपी अपनी सखी से कहती है कि उस मूर्ख ने कमल का अभिनव पुष्प नीम के दोने मे फेंक दिया, जो वही सूख कर बिखर गया। 'नीम के पत्ते का दोना' प्रयोग देखिये। इसमे कटुता व तिक्तता का भाव है साथ ही कमल फूल नीम के दोने मे फेंकना, का अर्थ गुण को न समझना भी है—

अभिनव एक कमल फुल सजनी
दोना नीम क डार
सेओ फूल ओतहि सुखायल सजनी
रसमय फुलल नेवार

गोपी एक रात का अनुभव सुनाती हुई गँवार कृष्ण की जो विशेषताएँ बताती हैं, वे इस प्रकार हैं:—

कि कहब हे सखि रात क बात
मानिक पड़ल कुबानिक हात
कांच कचन नहि जानए मूल
गुंजा रतन करए समतूल
तन्हि सौ कहाँ पिरीत रसाल
वानर कंठ की मोतिम माल
भनइ विद्यापति इह रस जान
वानर मुह की सोभए पान

विद्यापति ने लोक प्रचलित मुहावरों (Idioms) के प्रयोग मे भाषा को एक नई शक्ति दी तथा अपने कथ्य को अधिक जीवन्त और लोक-जीवन-सम्पृक्त बनाया। मुहावरों के साथ ही उन्होने लोक जीवन के अन्य तत्त्व भी ग्रहण किये। उदाहरण के लिए उनके गीतों में कई स्थानों पर प्रेम-

विरह आदि की सूक्ष्म परिस्थितियो मे लौकिक अन्धविश्वास भूत-प्रेत, टोना-टटका तथा अन्य प्रकार के रूढ़ विश्वासो का प्रयोग हुआ है। यह तो नही कहा जा सकता कि उन्होने इन विश्वासों को हानिकर या अवैज्ञानिक समझ कर इनका प्रतिकार किया, ऐसा करने का वह युग भी नही था, किन्तु उन्होने अपनी सहजता में ही इनका विरोध, कही विडम्बना दिखाई है। उदाहरण के तौर पर उनके गीत में एक प्रेमिका गोपी अपनी सास को धोखा देने के लिए भूताविष्ट का अभिनय करती है, कृष्ण एक ओझाइन बनकर आते है, और अकेले मे मंत्र-प्रयोग की आज्ञा लेकर घर के लोगा को उसके पास से हटा देते है, गोपी का रोग दूर हो जाता है—

निरजन होइ मत्र जब झाड़िए
तब इह होएब भाल
एत सुन जहिला घर दोहे ला ओल
निरजन दुहु एक ठाम
सब जन निकसल बाहर बइसल
पुरल कान्ह मन काम
बहु खन अतनु मंत्र पढ़ि झारल
भागल तब सेहो देवा
देव देया सिनि घर सयँ निकलल
चातुरि बूझबि केवा

इस प्रकार के भूत-प्रेत के बहाने के पीछे कितना सत्य होता है, क्या क्या अभिप्राय होते है, उनका एक व्यग्यात्मक संकेत यहाँ विद्यापति ने दिया है। राधा के विरह-प्रसंगों में भी इसी प्रकार के लौकिक विश्वासो का प्रयोग किया गया है, इसके कारण ऐसे वर्णन ज्यादा मार्मिक और हृदय-स्पर्शी हो सके है। जैसे कृष्ण के वियोग में राधा का आत्म-ग्लानिपूर्ण यह कहना कि क्या मै शाम का एकाकी तारा हूँ या भादव चौथ का चाँद जो कलक के डर से प्रभु मेरी ओर देखना तक नही चाहते। पंक्तियाँ पीछे राधा के विरह के प्रसंग में उद्धृत की जा चुकी है।

विद्यापति के काव्य मे ऐसे स्थलो की भी कमी नही है जहाँ वे अस्वस्थ और कई रूपों में अनैतिक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। रति के वीभत्स वर्णन, विपरीत रति के अश्लील वर्णन तथा विवृत आलिगन आदि के प्रसंग स्वस्थ प्रवृत्तियो के विरोधी ही कहे जायेगे। यद्यपि कही कही कवि ने ऐसे वर्णनो को रूढ अप्रस्तुतों की आड मे ढ़ंकने की कोशिश की है, किन्तु ऐसे प्रसंग भी उद्देश्य के सस्तेपन के कारण कुरुचिपूर्ण प्रतीत होते है। उदाहरण के लिए पदावली (वेनीपुरी-सम्पादित) का १७२ वाँ पद 'सखि हे कहब किनु नहि फूर' तमाम अलंकरण के आवरण के बावजूद अपनी नग्नता को नही छिपा सका है। विदग्ध-विलास के प्राय सभी पद इस दोष से पीडित है। इस प्रकार के वर्णनो के पीछे कैसी मनोवृत्ति काम कर रही थी, इस पर पीछे विस्तार से विचार हो चुका है, उसे यहाँ फिर से दुहराने की आवश्यकता नही प्रतीत होती।

दृष्टकूट के पद भी इसी अस्वस्थ मनोवृत्ति के परिचायक है, हालाँकि यह वस्तुगत नही शैलीगत दोष है। डा० विमान विहारी मजूमदार-सम्पादित 'विद्यापति' के एक सौ चौरानवे से लेकर दो सौ संख्या वाले पदो को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है, जैसे कवि ने महज पाठक को परेशान करने के लिए ही वे पदे लिखे है, इन सभी पदों के नीचे मजूमदार ने लिखा है कि इसका अर्थ नहीं मिला। यह रूढ़ परिपाटी है, इसमे शक नही। सस्कृत में भी इस प्रकार के दृप्टकूट पद बहुत लिखे गए। सूर ने तो इसमें कमाल ही कर दिया। वरन् जो कुछ भी हो यह प्रवृत्ति है अस्वास्थकर ही।

गीतिकाव्य : उदय और विकास

गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक लोकप्रिय और परम्परा-प्रशसित प्रकार है। मानव-मन के अत्यन्त निकट और उसी से निष्पन्न होने के कारण इस काव्य-विधा (फार्म आफ दि पोएट्री) ने हजारों वर्षों से निरन्तर समष्टि-चित्त को प्रभावित किया है। मनुष्य के सुख-दुख और उसके वैयक्तिक भावों, संवेगों और इच्छा-व्यापारो का एकमात्र सहज अभिव्यक्ति-माध्यम होने के कारण गीतिकाव्य को जो स्वीकृति और सम्मान मिला है, वह अद्वितीय है। कविता के विषय मे सामान्यत: और गीतिकाव्य के विषय मे विशेषत: आज ये शंकाएं सुनाई पडती है कि वर्तमान बौद्धिक युग अपनी विकल्पात्मक प्रक्रिया के कारण इन भावनामूलक काव्य-प्रकारो के लिए उतना उपयुक्त नही रहा। कविता ने इसलिए अपने को युगानुकूल बनाने के लिए न केवल अपने कलेवर मे परिवर्तन किया, बल्कि विषय-वस्तु मे भी वस्तुगत (आब्जेक्टिव) तथा वैचारिक अभिव्यक्ति को प्रधानता दी। वर्तमान कविता के बुद्धिवादी होने की बात इसी कथन की पुष्टि करती है। गीतिकाव्य चूंकि केवल भावनामूलक और वैयक्तिक अनुभूतियों को वस्तु के रूप में स्वीकार करता है इसलिए उसके लिए तो वर्तमान बौद्धिक युग और भी अधिक अनुपयुक्त ठहरता है। किन्तु इस तर्क की अतिवादी परिणति तो तब होती है जब कि नयी कविता के प्रायोगिक रूपों के हिमायती गीतिकाव्य के कवि को दक़ियानूस, प्रतिगामी या युग-सत्य के प्रतिदर्शी की उपाधि दे डालते है। यह सत्य है कि कोई-कोई युग-विशेष गीतिकाव्य के लिए उतना उपयोगी अथवा उत्साहवर्धक नही होता, किन्तु बौद्धिक होने के कारण ही वर्तमान युग गीतिकाव्य के लिए एकदम अनुपयुक्त नहीं माना जा सकता। इन परिस्थितियों को देखते

हुए गीतिकाव्य के मूल तत्त्वों, उसके उदय और विकास की अवस्थाओं का पूर्ण परीक्षण आवश्यक प्रतीत होता है।

गीतिकाव्य क्या है? आरम्भ मे यह प्रश्न स्वाभाविक है, किन्तु जिस प्रकार कविता की कोई सुनिश्चित और सर्वमान्य तथा पूर्ण परिभाषा उपस्थित कर सकना सम्भव नही है, उसी प्रकार गीति काव्य की भी कोई खास परिभाषा नही है। मुख्य लक्षणो के संधान के लिए हम दो पहलुओं से विचार कर सकते है। वस्तु की दृष्टि से गीतिकाव्य ज्यादा आत्मपरक होता है, अर्थात् उसमे मानवीय संवेदनात्मक तत्त्वो—इच्छा, संवेग, भावना आदि की प्रधानता होती है। ये लक्षण तो सामान्यतया साहित्यमात्र के कहे जा सकते है, क्योकि साहित्य भी मूलत भावनामूलक और संवेदनात्मक होता है, किन्तु गीतिकाव्य मे यह गुण कुछ अधिक मात्रा में मिलता है। इसी विशेषता की ओर सकेत करते हुए डा० चार्ल्स मिल्स ने लिखा है कि वस्तुत. गीतिकाव्य को ही कविता कहा जा सकता है। किसी कृति-विशेष मे काव्यात्मकता जितनी अधिक होती है वह उसी अनुपात में गीतात्मक होती है। नाटक जितना ही काव्यात्मक होगा वह उतना ही गीति-तत्त्व से पूर्ण होगा। महाकाव्य जितना ही अधिक काव्यात्मक हो वह उतना ही गीतात्मक होता है।[1] स्पष्ट है कि गीतिकाव्य का एक अत्यन्त आवश्यक धर्म उसका भाव-प्रधान होना है। काव्य के अन्य प्रकारों मे विवरण, वस्तु वर्णन और अन्य वैचारिक तत्त्व की प्रधानता हो सकती है, किन्तु गीतिकाव्य में इसके लिए अधिक स्थान नही। भावों की प्रधानता और कोमल अनुभूतियों को वस्तु तत्त्व के रूप में स्वीकार करने के कारण

---

1. In other words, pure poetry is that which has the essentially poetic quality is lyric poetry. Every composition becomes increasingly lyrical as it becomes more and more poetic, the more poetical a drama is the more lyrical it is. The more poetic an epic, the more lyrical it must be. (Methods and Materials of Literary Criticism. P. 7)

गीतिकाव्य स्वभावत. आत्मपरक (सब्जेक्टिव) हो जाता है। कवि अपने अनुभूत भावों को गीति में ढालता है, वस्तुगत विचारों से बचने के कारण उसकी कृति स्वभावतः ही वैयक्तिक और आत्मपरक होती है। दार्शनिक विचारकों ने गीतिकाव्य के आध्यात्मिक और वैयक्तिक स्वर को स्वीकार किया है। हीगेल ने गीतिकाव्य की जो परिभाषा दी है वह इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हीगेल के मत मे गीतिकाव्य का कवि जगत् के सारे तत्त्वों को अपने में समाहित करता है, अपने वैयक्तिक भावों के प्रभाव से इसे पूर्णत· आत्मसात करता है, और इस आत्मपरकता को सुरक्षित रखने वाली शैली में अभिव्यक्त करता है।[१] इस प्रकार गीतिकाव्य कविता के के अन्य प्रकारों से अपनी आत्म-परकता, सवेगपूर्णता और कल्पनाशीलता की विशेषताओं के कारण अलग प्रतीत होता है।

वैयक्तिकता का गुण गीतिकाव्य की किसी एकान्त विशेषता की ओर संकेत नही करता। जैसा कि ऊपर कहा गया है, आत्मिक अनुभूतियाँ अल्पाधिक रूप में अन्य रूपों में भी स्वीकार की जाती है। ऐसी अवस्था में यह कहना कि ये केवल गीतिकाव्य की ही विशषताएँ है, बहुत उचित नहीं मालूम होता। फिर गीतिकाव्य की परिभाषा का दूसरा पहलू ढूँढ़ना पड़ता है। वह है इसकी शैली। गीतिकाव्य की शैलीगत विशेषता है उसकी गेयता। गीति ग्रीक शब्द Lyric का हिन्दी रूपान्तर है, जिसका मूल अर्थ है वह गाना जो लायर बाजे के साथ गया जा सके।[२] कालान्तर में इस रूढ़ार्थ में बहुत विकास हुआ—तीन प्रकार से गाये जाने के कारण इसके तीन भेद हुए : समूह गान (Choral); एक व्यक्ति द्वारा गाये जाने वाला (Monodic); नृत्य के साथ गाया जाने वाला (Dorian) । ये भेद विकास की अवस्था तो बताते है, किन्तु गेयता के गुण

1. Quoted by Dr. Gayley in Methods and Materials of Literary Criticism, p. 5.

2. Greek, A poem to be sung to the lyre. (Shipley's Dictionary of World literary terms.)

को किसी-न-किसी रूप में सभी स्वीकार करते हैं। श्री ई० गोस इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के गीतिकाव्य शीर्षक परिच्छेद में लिखते हैं कि गीतिकाव्य सामान्य कविता के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है जो किसी गीति-वाद्य के साथ गायी जाती हो या गायी जा सके।[1] यहाँ आत्मपरक या वैयक्तिक अनुभूतियों का गुण बहुत बड़ा भेदक तत्त्व नहीं माना गया है। श्री गोस केवल गेयता को ही आवश्यक मानते हैं। गेय कविता को गीतिकाव्य तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु इस परिभाषा में अति व्याप्ति-दोष आ गया है। कोई भी कविता गायी जा सकती है, महाकाव्य तक गाये जा सकते हैं, अतः केवल गेयता को एकमात्र लक्षण स्वीकार करके गीतिकाव्य की परिभाषा नही बनायी जा सकती।

यूरोप के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियो ने इस काव्य-विधा के सैद्धान्तिक मूल्यांकन पर कोई विशेष ध्यान नही दिया है। ग्रीक विचारकों ने गीतियों को लक्ष्य किया था। उन्होंने मुख्यतया तीन विभेद भी स्वीकार किये थे जो ऊपर दिये गये हैं, किन्तु इस विषय के अध्ययन और सैद्धान्तिक सूक्ष्मताओं को व्यक्त करने का कोई प्रयास वहाँ नहीं दिखाई पड़ता। ग्रीस में विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले सामयिक गानों का श्रेणी-विभाजन अवश्य किया गया, किन्तु इसे काव्य के एक प्रकार के रूप में यहाँ भी बहुत महत्त्व नही दिया गया। "यूरोपीय पुनर्जागरण काल तक गीतिकाव्य के विषय में कोई नियमबद्ध सिद्धान्त निर्धारित नहीं हो सका था"।[2] परवर्ती काल में कई विचारकों ने इस पर विचार किये, किन्तु उपर्युक्त दोनों लक्षणों तक ही विवाद पहुँच कर रह गया। श्री पालग्रेव, जिन्होंने गीति-कविताओं का चयन और संपादन किया,[3] गीतिकाव्य को थोड़े शब्दों मे यों रखते हैं: "गीतिकाव्य इकहरे विचार, अनुभूति या स्थिति का चित्रण है जिसमें संक्षिप्तता, मानवीय भावना का रंग और गति अवश्य होनी चाहिए।" पालग्रेव की इस परि

1. In Encyclopedia Britannica 11th Edition, vol. XVII p. 180.
2. Spingran : Literary Criticism of Renaissance, p. 58.
3. Palgrave's Golden Treasury of Songs and Lyrics, preface.

भाषा मे दो और लक्षण दिखाई पड़ते है। पहला तो यह कि गीतिकाव्य में एक ही विचार या अनुभूति या स्थिति होनी चाहिए। उसमें उलझन या शाखा-विस्तार अथवा भावों के संघर्ष की स्थिति नही होनी चाहिए। इस दृष्टि से पालग्रेव ने संक्षिप्तता को अनिवार्य गुण स्वीकार किया। यही विशेषता है जो गीतिकाव्य को एक ओर वर्णनात्मक बड़ी कविताओ से अलग करती है, दूसरी ओर उसमें प्रभावान्विति (Totality of effect) को बढ़ाती है। एक भाव होने के कारण इस प्रकार की कविता अधिक सहज और सामान्य जन के लिए बुद्धिगम्य होती है। पालग्रेव न जिस दूसरी विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट किया, वह है गति की त्वरा (rapidity of movement)। गीतिकाव्य में भाव-शृंखला में परिवर्तन के लिए त्वरा आवश्यक है। सभी काव्य प्रभावित करते है। प्रेषणीयता और रसोद्रेक उसका गुण-धर्म होता है, किन्तु उनमे प्रभावोत्पादन की प्रक्रिया में क्रमिक विकास की स्थिति होती है। त्वरा या शीघ्रता बहुत ज़रूरी चीज़ नही होती, किन्तु अत्यन्त संक्षिप्त भावना की अभिव्यक्ति के कारण गीतिकाव्य मे यह त्वरा अत्यन्त आवश्यक है। हीगेल भी इन दो विशेषताओं को स्वीकार करते है।[1] उन्होने गीतिकाव्य के लिए दो आवश्यक तत्त्व माने: (१) सम्बद्धता (Unity) पूरे छन्द में भावाकुलता और प्रभाव की समान स्थिति का अटूट निर्वाह होना चाहिए। अन्यथा प्रभाव में ह्रास की भावना बनी रहती है। (२) कथन और घटना-प्रवाह मे शीघ्र परिवर्तन की स्थिति (Swift movement)। नयी बात कहकर उसे पुनः पूर्वकथित हिस्से से जोड़ कर माधुर्य और रसोद्रेक की सृष्टि करना भी गीतिकार का कौशल है। इस गतिशीलता पर एक और दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। सगीत की सबसे बड़ी विशेषता यह मानी जाती है कि वह हमारी सीमित भावना को समष्टिगत भाव-चित्त के साथ जोड़ता है। इसीलिए हम निरर्थक स्वरो को सुनते हुए किसी अज्ञात भावलोक मे डूब जाते है। संगीत हमारी प्रज्ञा को एक क्षण के लिए सासारिक यथार्थ के धरातल से उठा कर कल्पना के भावलोक मे

1. J. S. Kedney : Hegel's Aesthetics, Page 282.

अग्रसर करता है। हम स्वरों के आरोह-अवरोह को तथा उसके राग-लहरों के स्पर्श को अनुभव करते हैं और बिना किसी संकेत या अर्थ के यह समझ लेते है कि अमुक राग शोक-स्थिति का द्योतक है, मायूसी या निराशा का भाव-व्यंजक है, अथवा उसमे उल्लास, उत्साह या आनन्दसूचक भावों की प्रधानता है। इन्ही अनुमेय भावों के अनुसार हम संगीत के लयबद्ध स्वरो से प्रभावित होते हैं। वंशी की करुण रागिनि का कोई अर्थ नहीं, वह किसी प्रिया-विश्लेष-दुःख से अभिभूत चित्त की करुणा को शब्दार्थ के माध्यम से व्यक्त नही करती; किन्तु हर सहृदय व्यक्ति इस रागिनि से प्रभावित होता है। पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर बजने वाली शहनाई और मृत्यु के अवसर पर कंपन-भरी विलम्बित स्वरलहरी की करुणा का अन्तर कौन नही जान पाता ? इस प्रकार संगीत सर्वाधिक अशरीरी कला है जो हमारे मन को सीधे स्पर्श करती है। गीति इसी संगीत का सहारा लेता है। वह एक कोमल स्वरलहरी को शब्दशक्ति का सहारा देकर धरती पर उतारता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोमल भावों को पदार्थ से संयुक्त करता है। अर्थहीन स्वरों में वैयक्तिक अनुभूतियों की सृष्टि करता है। वह एक वायवी पदार्थ को धरती पर लाकर उसमें मानवीय सुख-दुःख की सर्वसामान्य अवस्थाओं से संयुक्त करता है, इसीलिए गीतिकाव्य, संगीत के इस उन्नयनशील भावोद्रेक-शक्ति के साथ समन्वित होने के कारण प्रभाव की अति तीव्र व्यंजना में सक्षम होता है। प्रो० एस० लाज लिखते है कि गीतिकाव्य कल्पना की गति है, जिसके द्वारा ससीम-मानवात्मा असीम के साथ सम्बद्ध होने का प्रयत्न करती है।[1]

इस प्रकार गीतिकाव्य में भाव की एकमेवता, गेयता, प्रभावान्विति और संबद्धता को विशेष लक्षण के रूप में स्वीकार कर सकते है। गीति-काव्य की इन विशिष्टताओं को दृष्टि में रखते हुए हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि इस काव्य-विधा में साहित्य-प्रणयन करने वाला कवि हृदय

1. The lyric, a movement of fancy by which the spirit strives to lift itself from Limited to the universal. by H. Lotze; Out-lines of Aesthetics, translated by G. T. Ladd, page 99.

से कुछ भावुक और अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील व्यक्ति होगा। यह अनुमान बहुत-कुछ ठीक है, किन्तु उसके आधार पर इस प्रकार के कवि को पलायनवादी या जागतिक संघर्षो से घबडानेवाला समझना ठीक नही होगा। कवि के मन में गीतिकाव्यात्मक भाव की सृष्टि प्रायः शान्ति-विक्षेप के कारण ही होती है। सर्वथा सहज ढंग से चलने वाले जीवनक्रम में भावना-व्यतिक्रम के कारण जो अशान्ति उत्पन्न होती है वह एक शक्तिशाली भाव को जन्म देती है, जो गीति का रूप ले सकता है। इसलिए मानसिक द्वन्द्व की स्थिति कवि के मन मे अवश्य ही रहती है। युग की समस्याएँ, सघर्षो की अवस्थाएँ भी कवि के मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं। इन वस्तुओं को वह जितनी ही एकाग्रता से सोचता है वे उसके हृदय में उतनी ही प्रबल भावना का रूप धारण करती हैं, उसके मन में क्षोभ, आक्रोश या निराशा की प्रवृत्तियाँ इन्हीं का परिणाम होती हैं। गीतिकाव्य में इनकी भी अभिव्यक्ति होती है। वीरतापूर्ण गान और राष्ट्रीय संघर्षो से उत्पन्न गीत इसी के उदाहरण हैं। अपनी सूक्ष्म भावप्रवणता और अभिव्यक्ति की बारीकी के कारण गीति-कविता किसी भी भाव या वस्तु को स्वीकार कर उसे प्राणवान और जीवन्त बना सकती है।

गीतिकाव्य की उत्पत्ति का प्रश्न भी विचारणीय है। श्री एच० टी० पेक लिखते है कि गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक सहज प्रकार होने के कारण निश्चित रूप से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, अन्य दूसरे चेष्टाजन्य रूप निश्चित ही इसके बाद और इसी से उत्पन्न हुए।[1]

काव्य की अन्य विधाओं (फार्म) की तरह गीतिकाव्य चूँकि सचेत बुद्धि-व्यापार से उत्पन्न वस्तु नही है, इसलिए आदिम मानव के अति पुरातन और आरंभिक भावों के साथ ही गीतिकाव्य का जन्म हुआ। हालाँकि यह कहना कठिन है कि गीतिकाव्य के आविर्भाव का निश्चित काल क्या है, किन्तु इतना तो सहज अनुमेय है ही कि संवेगो की तीव्रता और उद्वेलन की असामान्य परिस्थितियो मे भावाकुल अभिव्यक्ति ने स्वरों का

1. The Lyrics of Tennyson.

रूप लिया—ऐसे शब्द और अर्थ तथा उनकी पुनरावृत्ति यही गीतिकाव्य के आदिस्रोत है। महादेवी जी लिखती हैं—"संभव है, जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिडिया आनन्द से चहचहा उठती है, जिस प्रकार मेघ को घुमड़ता-घिरता देख कर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार मनष्य नें भी पहले-पहल अपने भावों का प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा किया हो।" आदिमानव के उल्लास और शोक के क्षण प्राय आंगिक गतियों द्वारा व्यक्त होते थे। शब्दों की शक्ति शोकाकुल भावों को व्यक्त करने में सदा असमर्थ होती है, उसी प्रकार अति उल्लास के क्षण भी शब्दके माध्यम से पूर्णतया प्रकट नही हो पाते। ऐसी अवस्था में विकसित मानव तक शारीरिक प्रक्षेप की शरण लेता है। समाज-विकास की आदिम अवस्था में इस तरह की बहुत-सी स्थितियों का संकेत मिलता है, जिसमे शोक-हर्ष की अभिव्यक्ति के लिए तरह-तरह की आगिक गतियों (Primitive art of movement) का उपयोग होता था। कविता के प्रारंभिक रूप के अध्ययन के बाद स्पेंसर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आदिम कलाओं, धार्मिक उत्सवों, अनुकरण-प्रधान (mimetic) क्रियाओं, समूह वाद्य और नृत्य के साथ कविता के मूल तत्त्वों का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।[1] बहुत-से मनोविज्ञानवेत्ता पंडितों ने गीति के उदय की मनोवैज्ञानिक अवस्था का भी अध्ययन किया। ज्यादा तीव्र सवेगों की अवस्था में हम प्राय: निरर्थक या अर्धसार्थक पदों को बार-बार बड़बड़ाते हैं। प्राय: यही अवस्था किसी न किसी रूप में गीतों के टेक के भीतर भी छिपी हुई है। गीतों के टेक अपनी अर्थहीनता और एकरसता के बाजजूद बार-बार दुहराये जाने पर चित्त को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार गीतिकाव्य अपने आदिम या अविकसित रूप में इन प्रारंभिक अभिव्यक्ति की अवस्थाओं से जुड़ा हुआ मालूम होता है।

गीतों के विकास की पूरी अवस्था हमें जीविकोपार्जन के लिए स्वेद-श्लथ श्रमजीवियों के समूहगानों में दिखाई पड़ती है। प्रारंभिक आदिम

1. Spencer, Frist principles P. 105-108.

समाज में मनुष्य अपने जीविकोपार्जन के निमित्त समूहबद्ध होकर प्रयत्न करता था, आज भी निचले स्तर के श्रमजीवियों में यह प्रथा देखी जा सकती है। वैसी अवस्था में काम के भार से थक कर लोग उस नीरसता को कम करने के लिए तथा निरन्तर वर्तमान एकधृष्टता (monotony) को मिटाने के लिए गीतो का सहारा लिया करते है। ये गीत तात्कालिक कर्तव्य से सबंधित नही होते। इन गीतों मे हम जीवन के उन क्षणो की अनुभूतियो की विवृत्ति पाते है जिनमे मनुष्य सहज धरातल पर खड़ा होकर अपने सुख-दुख को स्वीकार करता है। काडवेल ने कविता के उद्भव मे इस प्रवृत्ति को सहायक बताया है। यहाँ पर आलोचको को ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के गीति, जिनमें केवल वैयक्तिक सुख-दुख की बात होती है, कर्म के प्रेरक बन कर आते है, थके-हारे लोगों को नवीन उत्साह देते है, शक्ति और साहस देते है, उन्हें प्रतिगामी या निरुत्साही नही बनाते। इसलिए गीतिकाव्य की आत्मपरक प्रवृत्ति को युग-विरोधी कहना कोई मूल्य नही रखता। महादेवी जी ने ठीक ही लिखा है कि चिड़ियो से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ युवक कृषक जब अचानक खेत और चिड़ियो को भूल कर बिरहा या चैती गा उठता है तब उसमे खेत-खलिहान की कथा न कहकर अपनी किसी विरह-मिलन की स्मृति को ही दुहराता है। चक्की के कठिन पाषाण को अपनी साँसों से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को रागमय करती है, तो उसमे चक्की और अन्न की बात न होकर किसी आम्र-वन मे पड़े झूले की मार्मिक कहानी रहती है।[1] इस स्थान पर पुन. एक बार यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि गीतिकाव्य वर्तमान संघर्षमय युग मे भावुकता नही सिखाएगा, बल्कि कार्यरत और थके हुए लोगों मे नया उत्साह पैदा करेगा।

गीतिकाव्य के लिए उपयुक्त-अनुपयुक्त समाज की बात उठायी जाती है। प्रश्न विचारणीय है। क्योंकि विश्व के सभी देशों में गीतिकाव्य लिखे

---

१. आधुनिक कवि, भूमिका पृ० २०।

जाते है और लिखे गये हैं। उनका अध्ययन हुआ है और उनकी पृष्ठभूमि के रूप में उन सामाजिक परिस्थितियों की जांच भी की गई है, जो किसी-न किसी रूप में इसके विकास या ह्रास का कारण बनी हैं। पंडितों का विचार है कि सामाजिक रूढ़ियों, बौद्धिकता और विवेकपरस्ती का युग गीतिकाव्य के लिए बहुत उपयुक्त नही होता। इसके विपरीत संघर्ष, रूढ़ि-विरोधिता, क्रान्ति और विघटन के युग मे गीतिकाव्य की अत्यन्त उन्नति होती है। डा० गेले इस तथ्य का समर्थन करते हुए कहते हैं कि प्राय: यह माना जाता है कि सभ्य देशो में बौद्धिकता और सामाजिक रूढियों का युग, जैसा कि १८वी शती का था, गीतिकाव्य मे प्रबल अभिरुचि उत्पन्न करने के उपयुक्त नही होता।[1] प्राय: उस काल में जब सम्पूर्ण देश मे शान्ति हो, एकछत्र साम्राज्यों का संघटन हो रहा हो, किसी बहुत बड़े व्यक्ति की सत्ता को सारा बुद्धिवादी वर्ग स्वीकार कर लेता हो, तब गीतिकाव्य का ह्रास होता है। उस युग में अधिकांशत: महाकाव्यों की रचना होती है। उनके माध्यम से युग की वर्तमान परिस्थितियों का चित्रण किया जाता है। हीगेल ने लिखा है कि महाकाव्य में किसी राष्ट्र का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, किन्य गीतियों के बृहद् संग्रह मे राष्ट्र के आन्त-रिक और असली स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं।[2] हीगेल के इस कथन में व्यक्ति के जीवन को प्रधानता दी गयी है। व्यक्ति समाज की अन्तिम इकाई है, उसके जीवन की झलक महाकाव्यों में उस अनुपात में नही मिल सकती, क्योकि महाकाव्य प्राय: अतिमानवीय या महत्तम मानव के जीवन को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि गीतिकाव्य क

1. It has been frequently remarked that among civilized peoples an age of intellectualism and strong social convention, as was the eighteenth century, is unfavourable to the growth of strong lyric sentiment—Method and Materials of Literary Criticism, p. 40

२. वही पुस्तक, डा० गैले द्वारा उद्धृत, पृष्ठ ४०।

लिए वह यग अनुपयुक्त होगा, जिसमे मनुष्य की वैयक्तिक सत्ता को स्वीकार न किया जाए।

भारतीय गीतिकाव्य का आरम्भ वैदिक युग से मान सकते है। जैसा कहा गया कि गीतिकाव्य की सत्ता मनुष्य की आदिम अनुभूतियो के साथ जुडी हुई है, इसलिए गीतिकाव्य अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित प्रकार है, किन्तु किसी प्रमाण के अभाव मे हम भारतीय गीतिकाव्य का जन्म वैदिक काल के पूर्व नही सोच पाते। वैदिक गीतियो मे गीतिकाव्य का अत्यन्त ताजा, मौलिक और सहज स्वर सुनाई पड़ता है। प्रकृति के भयानक और आश्चर्यजनक रूपो को देखकर आदिम मन की जिज्ञासाएँ भय और विस्मय की स्थितियाँ, त्राण की कामना, स्तुति और श्रद्धा की भावनाएँ इन प्रारम्भिक गीतो में दिखाई पड़ती है। संघर्षरत जीवन के समूहगीत, वीरतापूर्ण गाथाएँ, एक कबीले से दूसरे कबीले के युद्ध के समय इष्टदेव से सहायता के लिए विनयपूर्ण याचनाएँ इन गीतो में व्यक्त हुई है। ई० डब्ल्यू० हापकिन्स प्राचीन भारतीय गीतिकाव्य को चार भागो में बाँटते है। पहला युग वैदिक गीतियो का है, जो ईसापूर्व आठवी शती से चौथी तक फैला हुआ है। इसमे धार्मिक और वीरगाथात्मक गीतियों की प्रधानता है। दूसरा युग ईस्वी पूर्व ४०० से पहली शती तक का है जिसमे भक्ति-भाव प्रधान है। तीसरा काल सहज प्रेम गीतों का है। चौथे मे प्रेमगीत तो है, किन्तु वे आध्यात्मिक और रहस्य के साथ वासना के रंगो से मिले-जुले होने के कारण अत्यन्त गहन और उलझे हुए दिखाई पड़ते है।[1]

प्राचीन भारतीय गीतिकाव्यों मे ज्यादातर धार्मिक और भक्तिपरक स्तुतियाँ ही प्राप्त होती है। वैदिक ऋचाएँ गायी जाती थी। सामवेद इन स्तुतियो और सूक्तों के गाने का विधान प्रस्तुत करता है। इस प्रकार गेयता की मुख्य प्रवृत्ति इन गीतियो मे वर्तमान है। वैदिक युग का भारतीय समाज बहुत-कुछ आदिम स्तर का कबीला समाज था। उसमे समूह-श्रम की

1. Hopkins, The Early Lyric Poetry of India, in the India new and old.

प्रथा थी। मनुष्य सामाजिक रूढ़ियो में आज की भाँति आबद्ध न था। उसके आहार-विहार स्वच्छन्द और उन्मुक्त थे। इन सब का प्रभाव इन गीतों पर दिखाई पड़ता है। बाद के स्तरों में सामाजिक असन्तुलन और उलझनो के कारण जीवन में जो एकरसता और संदेह की स्थिति बढ़ी, उसका प्रभाव पौराणिक देवो की स्तुतियो तथा रहस्यवादी अशरीरी उपासना के गीतों पर दिखाई पड़ता है। बाद के युग मे सामन्तवादी व्यवस्था के कारण एक लम्बे अर्से तक गीतिकाव्य का विकास न हो सका। आश्चर्य तो होता है यह देख कर कि संस्कृत के इतने विशाल साहित्य मे दसवी शती के पहले कोई बहुत अच्छी श्रेणी का गीतिकाव्य नहीं लिखा जा सका। संस्कृत गीतिकाव्य का पुनर्विकास जयदेव के 'गीतगोविन्द' में दिखाई पडा। मध्यकालीन युग में संस्कृत जनभाषा नही रही। प्राकृतो का प्रभाव चौथी शताब्दी से ही बढने लगा था। सस्कृत कवि प्राकृतो को स्वीकार तो करते थे, किन्तु इनका उपयोग ग्रामीण और असभ्य लोगों के वार्तालाप की भाषा के रूप में ही करते थे। इस तरह जनभाषा के प्रति उनके मन में तिरस्कार की भावना वर्तमान थी। संस्कृत राजकीय व्यक्तियो और अधिकार-प्राप्त (Pirvileged People) शिष्टजनो की भाषा रह गयी, उसमें अभिजात साहित्य की सृष्टि हो रही थी, वह जनसाहित्य से बहुत-कुछ विमुख बनी रही। फलतः जनता में उगने वाले गीतो के स्वर उनके लिए तूती की आवाज बने रहे। जिस समय सस्कृतकाव्य जनधारा से विच्छिन्न हो कर चमत्कार और कुतूहल की सृष्टि को ही कवि-धर्म की इयत्ता मान रहा था, समस्यापूर्ति और चमत्कारोत्पादन को ही कवि-कौशल की सीमा माना जा रहा था, तब लोक-भाषा में एक नवीन प्रकार के साहित्य की सृष्टि हो रही थी जो जनजीवन के रस से सिक्त थी, जिसमें धरती की गन्ध और उन्मुक्त पवन की सुरभि रची हुई थी। इस साहित्य को जिसने पहचाना, समझा और सराहा वह बिना रँगे न रह सका, और जिसने इसके तत्त्व को स्वीकार किया, उसके संस्कृत में लिखे काव्य में भी जीवन की सरसता दिखाई पड़ी। ऐसे कवियों में जयदेव प्रमुख हैं।

उन्होंने पूर्वी प्रदेश में प्रचलित प्रेमगीतों को सुना था, सराहा था। उनके गीतों मे इसलिए धरती की सोंधी गंध और प्रेम का उन्मुक्त विलास दिखाई पड़ता है। कुछ लोगों का खयाल है कि इस तरह के गीत पूर्वी प्रदेशो में ही प्रचलित थे। क्योकि वौद्धों के गान, चण्डीदास के पद, और विद्यापति के गीत इसी क्षेत्र की उपज है। किन्तु जल, पवन, धरती जैसे किसी एक प्रदेश की वस्तु नही, फसले सर्वत्र होती हैं, आकाश मे इन्द्रधनुष और जल पर लहरे सर्वत्र बनती-बिगडती है, वैसे ही जनता के भाव में गीतियो का जन्म-विकास सभी जगह समान रूप से होता है, उसमे जातिभेद संभव है, प्रकार भेद हो सकता है, किन्तु अभाव कही सभव नही। ग्यारहवी सदी के क्षेमेन्द्र कवि ने भी इसी प्रकार का गीतिकाव्य लिखा था। अपने दशावतार वर्णन में कवि ने लिखा है कि जब गोविन्द मथुरापुरी को चले गये, तो वियोग-क्षिप्त-हृदया गोपियाँ गोदावरी के किनारे गोविन्द का गुण-गान करने लगी। गोपियो ने जो गान गाया उसे कवि ने मात्रिक छन्दों मे लिखा है। अनुमान किया जा सकता है कि क्षेमेन्द्र ने इस तरह के गान अपने आस-पास सुने होंगे—[1]

ललितविलासकलासुख खेलन
ललनालोभनशोभनयौवन
मानितनवमंदन
अलिकुल कोकिलकुबलयकज्जल
कालकलिन्दसुताविगलज्जल
कालियकुलदमने

पद्य और बड़ा है। इसकी भाषा और शैली की समानता जयदेव के गीत-गोविन्द में ढूँढी जा सकती है।

हिन्दी के सर्वप्रथम गीतिकाव्य-लेखक विद्यापति हैं। विद्यापति मध्य-युगीन दरबारी कवियों की परंपरा में होते हुए भी जन-जीवन के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक थे। उन्होंने संस्कृत मे कविताएँ की जरूर, किन्तु उनकी

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी-हिन्दी साहित्य का आदिकाल।

श्रद्धा का अधिकाश 'देसिलवयन' के लिए सुरक्षित था। विद्यापति के मधुर 'गीतो' का प्रभाव सारे पूर्वी प्रदेश पर पड़ा। बंगाल के कवियों ने, चण्डीदास तक ने, इन गीतों को आदर्श के रूप मे ग्रहण किया और उनकी भाषा तक को स्वीकार किया। भक्तिकाल मे गीतो के साथ प्रबध लिखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। लेकिन प्रबंध लिखने मे मुसलमान कवि आगे थे। इसका मूल कारण था कि वे मुगल साम्राज्य के संरक्षित कवि थे, मुसलमानी राज्य के वे विरोधी न थे। तुलसी का काव्य अवश्य ही विरोधी समाज के प्रतिनिधि लेखक की कृति है, किन्तु तुलसी सचेष्ट रूप से एक ओर मध्ययुगीन क्लैसिक महाकवियों की परम्परा मे अपने को रखना चाहते थे, तो दूसरी ओर वे मर्यादा और सामाजिक रूढ़ियों के विरोधी कवि न थे जो एक गीतिकार को होना चाहिए। इस युग मे गीतिकाव्य प्राय: कृष्णभक्त कवियो ने लिखे, प्रेम और भक्ति की मूलधारा इस में सुरक्षित है। कृष्णभक्त कवि तुलसी की तरह न तो मर्यादवादी थे और न पुरानी रूढ़ियों के समर्थक। इसलिए उनके काव्य में गीतों की प्रवृत्ति को काफी प्रोत्साहन मिला।

किन्तु मध्ययुग के इस भक्ति-रीति साहित्य मे गीतिकाव्य की शुद्ध प्रकृति का स्पष्ट आभास नहीं मिलता। प्रगीत मुक्तकों का जो विशाल साहित्य लिखा गया है उसमे गेयता है, व्यक्तिपरकता भी कुछ अंशो में मिलेगी, किन्तु इसमे गीतात्मक पूर्णता का रूप नही मिलता। परवर्ती कवि दरबारी थे, जन-जीवन से दूर, इसलिए इनके काव्य मे एकविधिता (Ste eotype) मिलेगी। वास्तविक गीतिकाव्य का उदय छायावादी युग में हुआ जो सामाजिक रूढ़ि और सामन्तवादी व्यवस्था का विरोधी युग था। इस युग के काव्य में व्यक्तिवादी स्वर की अत्यन्त प्रधानता है। कवि को उसके इस अतिवादी रूप को देखकर लोगों ने कभी-कभी पलायनवादी तक कहा, किन्तु छायावादी पलायन-प्रवृत्ति के भीतर देखने पर व्यक्तिवादी अहम् तथा असंतोष की जो शक्ति दिखाई पड़ती है, वह अनन्य है।

गीतिकाव्य के विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह कोई वस्तु नही है जो पलायन, भावुकता और बुद्धि-विरोधिता को प्रश्रय देती है। यूरोपीय

आलोचकों ने तो यह भी स्वीकार किया है कि विचारात्मक वस्तु भी इस काव्य-माध्यम से व्यक्त की जा सकती है। उन्होंने वीरगाथात्मक और आध्यात्मिक अनुभूतियों को भी इस काव्य का परिगृहीत वस्तुतत्त्व माना है । ऐसी अवस्था में यह कहना कि वर्तमान युग में यह माध्यम अनुपयुक्त हो गया है, कोई खास अर्थ नही रखता। इस गीति-प्रवृत्ति को स्वीकार करके, आवश्यकतानुसार परिवर्तन और परिष्कार करके, नये संदर्भ में भी इसका उपयोग किया जा सकता है। एक ओर जहाँ रूप इसके प्रयोग द्वारा कविता को निरा गद्य काव्य होने से बचा लेंगे, वही दूसरी ओर काव्य के कथ्य को ज्यादा व्यापक समाज तक पहुँचाने में समक्ष होगे। मध्ययुग के बहुत-से विचारकों—कबीर आदि ने सिद्धों और संतों ने इस तरह के प्रयोग किये थे। खतरा यह अवश्य है कि हम गीतिकाव्य को प्रश्रय देने के जोश में व्यक्ति-केन्द्रित होकर समाजविरोधी या उपेक्षात्मक ढंग से आत्मरति ही मे गर्क न हो जाएँ।
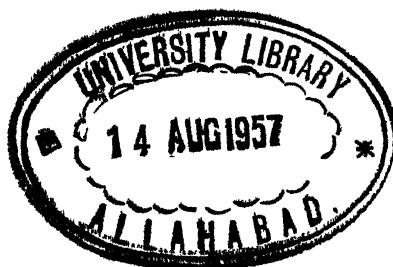
विद्यापति के गीत

गीति-काव्य के उपर्युक्त विवेचन और उससे उपलब्ध तत्त्वों को दृष्टि में रख कर विद्यापति के गीतों का विश्लेषण करने पर उसकी बहुत सी विशेषताओं और त्रुटियो का पता चलता है। विद्यापति के गीतो की सब से बडी विशेषता है, संगीतात्मकता। संगीत गीतो मे दो प्रकार से सलक्ष्य हो सकता है। एक तो यह है कि वे गीत विभिन्न वाद्यों के साथ किसी प्रणाली मे गाये जा सकते हों, दूसरा यह कि सगीत की मूल-भूत विशेषता यानी लय और उसकी आत्मा की गीतो मे अवस्थिति। स्पष्टत. यों कहा जा सकता है कि बहुत से गीत शास्त्रीय संगीत में गाये जाकर या कवि द्वारा निश्चित राग-रागिनी में आबद्ध होकर संगीत का विषय बनते हैं किन्तु बहुत से गीत ऐसे हैं जिन्हें असगीतज्ञ मनुष्य भी अपने मन में दुहरा कर उनकी लयमयता से, उनके भीतर निहित संगीतात्मक तत्त्व से आनन्द प्राप्त करता है। विद्यापति स्वयं एक बहुत बड़े संगीतज्ञ थे, मैं गायक नही कहता क्योकि इसका कोई प्रमाण नही मिलता, वैसे अपने बहुत से पदों के अन्त में वे सर्वत्र 'विद्यापति कवि गाओल' ही लिखते है। गीत की जानकारी का पता दो प्रकार से चलता है। एक तो कवि ने अपने गीतों के लिये राग-रागिनियों का निर्णय कर दिया है—डा० सुभद्र झा द्वारा सम्पादित विद्यापति-गीत-संग्रह मे जितने भी पद दिये हुए है वे सभी राग-बद्ध है। इस संग्रह के आरम्भिक छप्पन गीत मालव राग में, सत्तावन से एक सौ तीस तक के गीत धनछरी राग में, एक सौ इकत्तीस से एक सौ पैंतीस तक आसावरी राग में, एक सौ छत्तीस से १४६ तक मलारी राग मे, १४७ वॉ सामरी राग में, १४८ वें से १५४ वें तक अहिरानी राग मे, १५५ वें से १५७ तक केदार राग में, १५८ से १६२ तक कानड़ा

राग मे, १६३ से १६४ तक कोलर राग मे, १६६ से २०२ तक सारंगी राग मे, २०३ से २०७ तक गुजरी राग, तथा आगे भी कई पद वंसन्त विभास, नाटराग, ललित, वरली, आदि रागो मे दिये हुए है। ये राग कवि द्वारा निर्धारित हो सकते है, किसी दूसरे संगीतज्ञ द्वारा भी ये राग-बद्ध किये गए, ऐसा भी हो सकता है। वैसे विद्यापति के कुछ गीतो में शब्दो के साथ कही•कही लेखक ने वाद्य स्वरों को भी दे दिया है, जैसे ये गीत गाये जाने के लिए ही लिखे गए थे। यथा :

वाजत द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमिया
नटति कलावति माति श्याम सँग
कर करताल प्रबंधक ध्वनिया ।२।
डम डम डंफ डिमिक डिम मादल
रुन झुन मंजीर बोल ।
किंकिनि रन रनि वलआ कनकनि
निधुवन रास तुमुल उतरोल ।४।
बीन रवाब मुरज स्वर मंडल
सा, रि, ग म प ध नि सा बहु निधि भाव
घटिता घटिता धुनि मृदंग गरजनि
चंचल स्वर मडल करु राव ।६।
स्रम भर गलित लुलित कबरीयुत
मालति माल बिथारल मोति
समय वसंत रास रस वर्णन
विद्यापति मति छोभित होति ।८।

ऐसे पदों को देखने से विद्यापति न केवल संगीतप्रेमी बल्कि संगीतज्ञ प्रतीत होते है। संगीतज्ञ कवियों बैजू बावरा और गोपाल नायक का जिक्र हमने सास्कृतिक पृष्ठभूमि के पर्यवेक्षण के सिलसिले में पीछे किया है। इन कवियो की कविताओ मे भी शब्दों के बीच में ताल और स्वर के संकेत दिये हुए है। मध्यकालीन कवि के लिए संगीतज्ञ होना तब आवश्यक भी

था, इसलिए भक्तिकाल के हिन्दी कवियों ने भी अपनी कविताओ के राग-आदि निश्चित कर दिये है।

लेकिन बहुत से गीत ऐसे है जो सगीत के तत्त्वों से स्पष्टतया वाधित न होकर अपनी आत्मा की संगीतमयता के कारण हमें प्रभावित करते हैं। ऐसे गीत मन मे निहित व्यक्तव्य भाव के अनुकूल ही लय का निश्चित रूप लेकर अवतरित हुए हैं। इन गीतों मे जैसे मानव मन मे परम्परा, संस्कार और सुख-दुःख के हजारों क्षणो में प्राप्त अनुभूतियों की लहर की कम्पन है, ये गीत-मानव मन में अभिलषित भाव के साथ इतना शीघ्र तादात्म्य स्थापित कर लेते है कि जैसे ये हमारे मन की ही उपज हो, इसी कारण इस प्रकार के गीत संगीत की वाह्य परिपाटी से अनुचालित न होकर मनुष्य के मन में अवस्थित शाश्वत संगीत से प्रेरित होते है। इन पदों में शब्द और अर्थ की गुरुता नहीं होती, इनके शब्द अत्यन्त सहज और बहुप्रचलित शब्द साकेतिक ढंग से भाव की अभिव्यक्ति कर देते हैं, ऐसे शब्द जो सैकड़ों वर्षों से जन-मानस मे उसी अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते आ रहे हैं—इसी कारण ऐसे पदों में भाव की अभिव्यक्ति शब्द से नहीं लय की आत्मा के आधार पर होती है। जैसे—

कुंज भवन सँय निकसलि रे
रोकल गिरधारी
एकहिं नगर वस माधव रे
जनि कर बटमारी
छाड़ु कन्हैया मोर आँचर रे
फाटत नव सारी
अपजस होएत जगत भरि रे
जनि करिअ उधारी
सँग क् सखी अगुआइल रे
हम एकसरि नारी
दामिनि आए तुलाइल रे
एक राति अँधियारी

शब्द निर्व्याज सहज हैं, अलंकरण का कही नाम नहीं, पूरे पद में एक खास प्रकार का उल्लासभरा आग्रह, लय की बार-बार टूटती-उठती मनुहार और इन सबके ऊपर ऐसे चलते हुए शब्दों का प्रयोग इस गीत को प्राणवान बनाता है। एक बात और ध्यान देने की है। कवि ने बड़ी योग्यता से ऐसे गीतों में भाव की एकसूत्रता की भी रक्षा की है। वैसे उस गीत की सहजता के भीतर अर्थ की कमी नही है, संकेत प्रचुर है—सब कुछ ऊपर से कहा जा रहा है, सखी का निर्जन में होना, बिजली की भयकारी स्थिति, जिसे उन्होंने बिजली का तुलाइत, तुलित होना कहा है तथा रात की अँधियारी। गोपी के प्रेमोच्छ्वास के संकेत हैं, आवर्जन के नही।

ऐसे गीतों में इतनी सहजता क्यों है ? आधुनिक कवियों की कविताओं में खास तौर से गीतों में लोकगीतों की धुन, शब्दावली और सहजता को ग्रहण करने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। ऐसे गीतों की प्रशंसा भी इधर खूब हुई है और छायावादी गीतकार भी प्रयोगवादी बनने के लोभ से इसी आसान ट्रिक को अपनाने लगे हैं; पर इसमें सबसे बड़ी गड़बड़ी यह दिखाई पड़ती है कि इन गीतों मे भाव की सहजता नहीं आती, केवल लोक-धुन पकड़ लेने से मध्यवर्गीय जीवन के कुंठाग्रस्त भावो में सहजता लाना असंभव है। इसके लिए भावों की ईमानदारी और अनुभूतियों की एकाग्रता अपेक्षित है। विद्यापति के गीतों में लोक गीतो की केवल धुन ही नही, उनकी सहजता और गंभीरतम अनुभूतियों की व्यंजना हुई है, इसी कारण ये गीत बहुत अधिक संवेद्य हो पाये है। विद्यापति जैसे दरबारी कवि के लिए लोकगीतों की ओर आकृष्ट होना ही बडी बात थी, उन्होंने इस आकर्षण को फैशन के लिए ग्रहण नही किया, जैसा कि आजकल बहुत से कवि किया करते है। इतना ही नही विद्यापति के कई गीत इतने अधिक लोकतत्त्वग्राही हैं कि वे बिल्कुल लोकगीत मालूम पड़ते हैं। जैसे:—

मोरे रे अँगनवाँ चनन केरि गछिया
ताहि चढ़ कुररय काग रे

सोने चोंच बाँधि देब तोयँ बायस
जयों पिया आवत आज रे
गावह सखि सब झूमर लोरी
मदन अराधन जाउँ रे
चओ दिसि चम्पा मओली फूलल
चान इजोरिया रात रे
कइस कय मोयँ मयन अराधब
होइति बडि रति सात रे
विद्यापति कवि गाएब तोहर
पहु अछ गुनक निधान रे
राओ भोगीसर सब गुन आगर
पदमा देइ रमान रे

प्रोषितपतिका का काक-शकुन-संभाषण हमारे लोकगीतों का एक बहुप्रचलित विधान है। अपभ्रंश की लोक-जीवन-संपृक्त रचनाओं में भी 'वायस उड्डा-वन्तिए' में नायिका का यह प्रेम-विह्वल भाव दिखाई पड़ता है। एक दूसरी कविता की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं। इसमें भी लोक-गीतों की अनलंकृत सुन्दरता और भावों की सहजता दिखाई पड़ती है—

सुतलि छलहुँ हम घरवा रे
गरवा मोतीहार
राति जखनि भिनुसरवा रे
पिया आएल हमार
कर कौसल कर कपँइत रे
हरवा उर टार
कर पंकज उर थपइत रे
मुख चन्द निहार
केहनि अभागिल बैरनि रे
भागलि मोर निन्द

भल कए नहिं देखि पाओल रे
गुनमय गोविन्द

विरहिणी गोपी का यह स्वप्न और उस स्वप्न में भी प्रिय के स्पर्श के कल्पित सुख का असमय नींद टूट जाने के कारण तिरोधान तथा इससे उत्पन्न एक निविड़ वेदना का कितना सहज और स्वाभाविक चित्रण हुआ है। विरहिणी अपने प्रिय के प्रत्येक स्पर्श का वर्णन कितनी ईमानदारी और निश्छल भाव के साथ करती है।

विद्यापति के गीतों पर जयदेव का प्रभाव भी कम नहीं पड़ा। अभिनव जयदेव की उपाधि इसी विशेषता को दृष्टि में रखकर दी गई थी। जयदेव का प्रभाव न केवल प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं के चित्रण और आंगिक मिलन के विविध प्रसंगों मे दिखाई पड़ता है बल्कि गीतों की भाषा, शब्द-चयन तथा धुन और लय में भी स्तष्ट उभरता दिखाई पड़ता है। जयदेव के गीतों का प्रभाव दुर्निवार था भी। पिछले खेवे के बहुत से कवियों ने इस शैली का अनुकरण किया। विद्यापति के और जयदेव के गीतों में प्रायः सदश शब्दों या पदावलियों का व्यवहार हुआ है, हम पीछे स्थान-स्थान पर इस ओर संकेत कर चुके हैं।

अवहट्ठ काव्य

शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ठ के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ठ शब्द में स्वयं कोई ऐसा संकेत नही जिसके आधार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ती रूप मानें। क्योंकि संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रश वांङमय में जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है इसका अर्थ अपभ्रंश ही है। ज्योतिरीश्वर[1] ठाकुर के वर्णरत्नाकर (१३२५ ईस्वी) और विद्यापति की कीर्त्तिलता[2] (१४०६ ईस्वीं) के प्रयोगो के और पहले से इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२वी शती के अद्दहमाण ने अपने संदेशरासक में भाषात्रयी और उनके लेखको को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

> अवहट्टय सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए
> लक्खण छन्दाहरेण सुकइत्तं भूसियं जेहि
> ताणउणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थ रहियाण
> लक्खछन्दपमुक्क कुकवित्तं को पसंसेइ। (सं० रा० ६-७)

अद्दहमाण ने भी संस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ठ का नाम लिया है। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति ने संस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का

१—पुनु कइसन भाट संस्कृत प्राकृत, अवहट्ठ पैशाची, शौरसेनी मागधी छहु भाषा का तत्संज्ञ, शकारी, आभिरी, चांडाली, सावली, द्राविली, औतकली विजातिया सातहु उपभाषाक कुशलह। वर्णरत्नाकर ५५ ख। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और बबुआ मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता १९४० ई०

२—सक्कय वाणी बुहअन भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल बअना सबजन मिट्ठा, तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।
(कीर्तिलता १।१९-२२)
कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, प्रयाग, १९५५ ई०।

उल्लेख किया हैं। संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संस्कृत आलंकारिकों ने एकाधिक बार किया है। षट्भाषा प्रसंग में संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश की गणना का नियम था। मंख कवि के श्रीकंठ-चरित की टीका से पता चलता है कि छः भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश), मागधी, पैशाची, देशी की गणना होती थी—

संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा
ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजाऽपि च।

नवी शती के संस्कृत आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार में ६ भाषाओं के प्रसंग मे अपभ्रंश का नाम लिया है—

प्राकृतं संस्कृतं मागध पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च
षष्टोत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः।
(काव्यालंकार २।१)

ऊपर के श्लोक की छः भाषायें वही हैं जो ज्योतिरीश्वर ने वर्णरत्नाकर में गिनाई हैं। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश और अवहट्ट दोनों का सर्वत्र समानार्थी प्रयोग हुआ है। अद्दहमाण और विद्यापति ने भी अवहट्ट का प्रयोग अपभ्रंश के लिए ही किया है। संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश की यह भाषात्रयी भी वैयाकरणों और आलंकारिकों द्वारा बहुचर्चित रही है।

इन तीनों प्रयोगों से भिन्न प्राकृतपैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने अवहट्ट को प्राकृत-पैंगलम् की भाषा कहा है। प्राकृत पैंगलम् के प्राकृत शब्द से, इस ग्रन्थ का संकलनकर्ता या लेखक १२ वी शती के आरम्भ में इस पिंगल शास्त्रग्रन्थ के संपादन के समय, संभवतः 'अवहट्ट' का अर्थ-बोध कराना नही चाहता था। उसके लिए इस ग्रंथ की भाषा 'प्राकृत' थी। किन्तु परवर्ती काल में इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का टीकाकार वंशीधर इसकी भाषा को प्राकृत न कहकर अवहट्ट कहता है। प्राकृत पैंगलम् की पहली गाथा की टीका में टीकाकार लिखता है—

पढमं भास तरंडो
णाओ सो पिंगलो जअइ (१ गाहा)

टीका—प्रथमा भाषा तरंडः प्रथम आद्य भाषा अवहट्ठ भाषा यया भाषया अयं ग्रन्थो रचितः सा अवहट्ठ भाषा तस्या इत्यर्थः त प्प पारं प्राप्नोति तथा पिंगल प्रणीत छन्दशास्त्र. प्राययावहट्ठभाषा रचितैः तद् ग्रन्थ पारं प्राप्नोतीति भाव •सो पिंगल णाओ जअइ, उत्कर्षेण वर्तते।

(प्राकृत पैंगलम् पृष्ठ ३)

ग्रन्थ का लेखक आरम्भ में भाषा को तरंड (नौका) कहकर उसकी वन्दना करता है और बाद मे छन्दशास्त्र के आद्याचार्य नाग पिंगल की जयकार करता है। वंशीधर ने संभवतः 'पढम' का अर्थ भाषा के दिए लगा लिया जब कि वह वन्दना के तारतम्य का संकेत है, पहले भाषा की तब आचार्य की। यद्यपि वंशीधर ने प्रथम का अर्थ आद्यभाषा किया फिर भी निःसंकोच इसे अवहट्ठ भाषा ही कहा। अवहट्ठ को आद्य भाषा क्यो कहा जाय, इसका कोई स्पष्टीकरण वंशीधर ने नहीं प्रस्तुत किया। सभवत. आद्यभाषा से उनका तात्पर्य नव्य आर्यभाषाओं का आरंभिक भाषा यानी उद्भावक भाषा से था। अवहट्ठ का कोई संकेत लेखक ने नही दिया था किन्तु १६वीं शती के टीकाकार ने इस भाषा को अवहट्ठ नाम दिया। यही नही एक दूसरे स्थान पर वंशीधर ने इस भाषा के व्याकरणिक ढाँचे की मीमांसा करते हुए लिखा है : इस भाषा यानी अवहट्ठ में पूर्व निपातादि नियमो का अभाव है इसलिए पद-व्याख्या करते समय गड़बड़ी को दूर करने के लिए अन्वयादि की यथोचित योजना कर लेनी चाहिए—

'अवहट्ठभाषायां पूर्वनिपातादिनियमाभावात् यथोचित योजना कार्या सर्वत्रेति बोध्यम् (प्राकृतपैंगलम् पृ० ४१८)।

वंशीधर ने इस वाक्य द्वारा अवहट्ठ भाषा मे निर्विभक्तिक प्रयोगो की बहुलता देखकर यह चेतावनी दी है। निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश, यहाँ तक की हेमचन्द्र के दोहों में भी, कम से कम हुआ है, किन्तु नव्य आर्य भाषाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल दिखाई पड़ती है, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के वाक्यविन्यास की सविभक्तिक प्रयोग-

वाली विशिष्टता नई भाषाओं में समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसर्गों की सृष्टि करनी पड़ी और वाक्य गठन में स्थान वैशिष्ट कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरकीब को स्वीकार करना पड़ा। यह प्रवृत्ति जैसा वंशीधर के सकेत से स्पष्ट है, अवहट्ठ भाषा मे वर्तमान थी, इस प्रकार वंशीधर का अवहट्ठ भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अपभ्रंश के बाद की स्थिति का संकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ठ, जैसा कि अपभ्रष्ट शब्द का विकसित रूप है, क्यो १२ वीं शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ? पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अपभ्रंश कहते थे। अपभ्रंश मे निहित 'च्युति' को संलक्ष्य करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामों से अभिहित करते थे। स्वयंभू[1], पुष्पदंत[2], जैसे गौरवास्पद कवि इस भाषा को देसी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होने अपभ्रंश नाम का कम से कम प्रयोग किया। संस्कृत आलंकारिको ने तिरस्कार से यह नाम इस 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अपभ्रंश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अपभ्रंशअवहट्ठ हो गया, प्रयोग में आते-आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अपभ्रंश विकसित होकर राष्ट्रव्यापी हुआ और उसका निरन्तर विकासमान रूप बाद में अवहट्ठ कहा जाने लगा। परवर्ती अपभ्रंश प्राकृत प्रभाव से विजड़ित एक रूढ़ भाषा थी, परवर्ती कवियों अद्दहमाण, विद्यापति या प्राकृतपैगलम् के लेखक ने इसे "देसिलवयना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रवाह से अभिषिक्त करके नया रूप दे दिया, इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियो ने अपभ्रंश नही अवहट्ठ यानी एक सीढ़ी और बाद की भाषा कहा।[3]

---

१. दीहू समास पवाहा वंकिय सक्कय पायय पुलिणा लंकिय
देसी भाषा उभय तडुज्जल कविदुक्कर घण सद्द सिलायल (पउमचरिउ)

२. वायरणुं देसि सदत्थ गाढ (पसणाहचरिउ)
ण विणयामि देसी (महापुराण)

३—अवहट्ठ सम्बन्धी विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य : लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, प्रयाग, १९५५

विद्यापति ने 'देसिल वयना' की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि इसी तरह के अवहट्ठ में कीर्तिलता काव्य लिखूँगा—

देसिल वयना सव जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पञो अवहट्ठा

इस 'तैसन' को लेकर विद्वानो ने बहुत व्यर्थ की माथापच्ची की है। वस्तुत. विद्यापति देसिल वयना से अपनी भाषा मैथिली को सम्बोधित करते हैं, जब कि अवहट्ठ तत्कालीन सर्वमान्य साहित्यिक भाषा थी।

वैसे विद्यापति की पदावली की भाषा को भी लोचन ने अपनी राग-तरंगिणी मे 'मिथिलापभ्रंश' ही कहा है। अपभ्रंश शब्द का प्रयोग बहुत ही ढीले-ढाले अर्थ मे होता था। कुछ लोग इसी मिथिलापभ्रंश शब्द को लेकर कीर्तिलता की भाषा को भी मिथिलापभ्रंश ही कहने लगे। पर लोचन कवि ने तो अपने मिथिलापभ्रंश का साफ अर्थ भी लिख दिया है

देश्यामपि स्वदेशीयत्वात् प्रथमं मिथिलापभ्रंशभाषाया
श्री विद्यापतिनिवद्धास्ता मैथिलीगीतगतय: प्रदर्शन्ते

लोचन कवि स्पष्टत: विद्यापति के गीतों की मैथिली भाषा को मिथिलापभ्रंश कहते है कीर्तिलता की भाषा के लिए उन्होंने ऐसा नही कहा है। अपभ्रंश का अर्थ उनके लिए देशी भाषा था इसीलिए उहोंने 'देश्याम' लिखा।

पदावली की भाषा[1] मैथिली है, इसमें शक नहीं; पर उसपर अवहट्ठ (परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश) का भी कम प्रभाव नहीं है इसी कारण विभक्तियों और परसर्गों में तथा कुछेक क्रिया रूपों में पश्चिमी प्रभाव भी दिखाई पडता है।

१४ वीं शताब्दि में उत्तर भारत की भाषा स्थिति का पर्यवेक्षण करने पर कुल छः प्रकार की भाषाएँ प्रचलित दिखाई पड़ती है।

१४ वीं शताब्दी में प्रचलित भाषाओं के विश्लेषण के आधार पर

१—पदावली की भाषा के लिए द्रष्टव्य : शिवनन्द ठाकुर का महाकवि विद्यापति, तथा डा० समुद्र झा का सांग्स आव विद्यापति।

तत्कालीन उत्तर भारत की भाषा-स्थिति का कुछ अनुमान नीचे की सूची से हो सकता है।

(१) संस्कृत-प्राकृत—दोनो साहित्यिक भाषाये जनता से कटी हुई, थोडे से लोगों के बुद्धि-विलास की वस्तु रह गई थी, फिर भी इनमें काव्य-प्रणयन हो रहा था, श्रीहर्ष का नैषध तत्कालीन सस्कृत और समराइच्च कहा आदि प्राकृत भाषा के आदर्श ग्रन्थ है।

(२) शौरसेनी अपभ्रश का साहित्यिक रूप—जैन लेखको की रूढ़ अपभ्रश आदर्श। शालिभद्र सूरि (११८४ ईस्वी), लक्खण (१२५७ ईस्वी) आदि की रचनाएँ इस श्रेणी में आती है।

(३) शौरसेनी का परवर्ती अवहट्ठ रूप, सिद्धो के दोहे, कीर्तिलता, अद्दहमाण के सन्देशरासक के दोहे इस भाषा के आदर्श है।

(४) अवहट्ठ और राजस्थानी के किंचित् मिश्रण से उत्पन्न पिगल। प्राकृतपैंगलम्, प्राचीन रासो काव्य, रणमल्ल छन्द आदि इस भाषा के आदर्श। चारण शैली की भाषा।

(५) पश्चिमी प्राचीन राजस्थानी या गुजराती मिश्रित अपभ्रंश जिसमें शौरसेनी का कम प्रभाव न था, यह भी साहित्यिक भाषा हो गई थी, तेसीतोरी ने इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।

(६) देश अपभ्रंशों से विकसित जनभाषाये। प्रारंभिक मैथिली, राजस्थानी, गुजराती, आदि।

विद्यापति की पदावली की भाषा मूलतः नं० ६ के अन्तर्गत सम्मिलित मैथिली है, इसमें शक नही, पर इसपर नं० ३ और ४ का प्रभाव भी कम नही है। अवहट्ठ भाषा में विद्यापति ने कीर्तिलता, कीर्तिपताका और कुछ फुटकल रचनाये लिखी। कीर्तिलता का सबसे पहला सस्करण बँगला मे महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के सम्पादन मे वगीय सन् १३३१ अर्थात् ईस्वीय १९२४ मे प्रकाशित हुआ। ईस्वी सन् १९२२ में शास्त्री जी नेपाल गए और वही से वे कीर्तिलता की प्रतिलिपि ले आये। कीर्तिलता का पहला संस्करण होने के कारण इसमे पाठ और अर्थ की कई भूलें

है किन्तु शास्त्री जी का यह कार्य सर्वथा प्रशंसनीय और गौरवास्पद है, इसमें शक नही। ईस्वीय सन् १९२९ मे डा० बाबूराम सक्सेना के सम्पादन में कीर्तिलता का हिन्दी संस्करण काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ। यह संस्करण शास्त्री जी के वंगीय संस्करण के बाद प्रकाशित हुआ और सक्सेना जी के पास शास्त्री जी की अपेक्षा सामग्री भी अधिक थी, किन्तु अभाग्यवश यह संस्करण बँगला सस्करण से अच्छा और कम त्रुटि-पूर्ण न हो सका। १९५५ ईस्वी में इन पंक्तियों के लेखक ने कीर्तिलता का नया संशोधित पाठ, उसकी भाषा के विस्तृत विश्लेषण और पाठ-शोध के साथ साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग से प्रकाशित कराया। कीर्तिलता के विषय मे इस सस्करण मे विस्तार से विचार किया गया है, इसलिए उसे यहाँ दुहराना आवयश्यक नही मालूम होता।

कीर्तिपताका पुस्तक अब तक प्रकाशित नही हो सकी है। बहुत दिनों तक इस पुस्तक की प्राप्ति में ही आशंका बनी रही, इधर पटना कालेज मे इसकी प्रति की फोटो-कापी के आने की सूचना मिली है, किन्तु जब तक यह सम्पादित होकर प्रकाशित नही हो जाती, इसका काव्यगत मूल्याङ्कन संभव न हो सकेगा।

इन दो बड़ी रचनाओं के अतिरिक्त विद्यापति ने दो तीन फुटकल रचनायें भी अवहट्ठ मे लिखी, किन्तु इनका साहित्यिक मूल्य नही के बराबर है। डा० विमानबिहारी मजूमदार—सम्पादित विद्यापति में पद संख्या ८ और ९ के अन्तर्गत दो रचनायें दी हुई है।

ऐसी दशा मे यहाँ केवल कीर्तिलता का ही मूल्याङ्कन प्रस्तुत किया जा रहा है।

कीर्तिलता की भाषा को देखते हुए सहसा किसी पाठक को विश्वास नहीं होता कि कीर्तिलता को भी गीतकार विद्यापति ने ही लिखा है। किन्तु 'अवहट्ठ' की हठीली शब्द-योजना के भीतर प्रवेश करने पर किसी भी सहृदय को 'गीतों के गायक' को पहचान सकना कठिन न होगा। जीवन की समष्टि और समग्रता कल्पना के एक क्षण की तुलना

में कठोर-क्रूर होती ही है, और कवि के लिए तो यह सहसा एक चुनौती भी है कि उसकी विधायिका शक्ति इन तमाम क्रूरता-कठोरता को कैसे अभिव्यक्ति दे पाती है। इस दृष्टि से कीर्तिलता के पाठक को एक नए तरह के रस का आस्वाद मिलेगा। इसमें जीवन की तिक्तता, कसैलापन और मिठास सभी कुछ है। विद्यापति का भावुक कवि कीर्तिलता मे जैसे जीवन के वास्तविक धरातल पर उतर आया है। और यथार्थ का यह धरातल एक बार के लिए कवि के मन में भी आशंका का बीजारोपण कर ही देता है: फिर भी उनके मन को विश्वास है कि चाहे असूया-वृत्ति के दुर्जन इस काव्य की निन्दा ही क्यो न करें, काव्य कला के मर्मी इसकी अवश्य प्रशंसा करेगे।

का परबोधओ कवण मणावओ। किमि नीरस मने रस लए लावओ॥
जइ सुरसा होसइ मझु भासा। जो बुज्झिह सो करिह पससा॥
महुअर बुज्झइ कुसुम रस कब्ब कलाउ छइल्ल
सज्जन पर उअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल

शंकर के मस्तक पर सुशोभित द्वितीया के चन्द्रमा की तरह विद्यापति की यह कृति प्रशंसित होगी, ऐसा कवि का विश्वास है और इसमें सन्देह नही कि उनका यह विश्वास आधारहीन नही है।

कीर्तिलता का काव्य-रूप

मध्यकाल के साहित्य मे वृत्तान्त-कथन की तीन प्रमुख शैलियाँ दिखाई पड़ती है। परवर्ती संस्कृत साहित्य के चरित काव्य या ऐतिहासिक काव्यो की शैली, दूसरी कथा-आख्यायिकाओं की शैली और तीसरी प्रेमाख्यानकों की मसनवी शैली जो पूर्णत: विदेशी प्रभाव से विकसित हुई थी।

संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की शैली भी बहुत प्राचीन नही मालूम होती। विद्वानों की धारणा है कि ६वी ७वी शताब्दी के आस-पास मुसलमानों के सम्पर्क से इस प्रकार की शैली का उदय हुआ है। यह सत्य है कि पिछले खेवे मे जिस प्रकार के ऐतिहासिक काव्य लिखे गए वैसे काव्य पूर्ववर्ती साहित्य मे नही मिलते किन्तु इतिहास को कल्पना और अति-

शयोक्ति के आवरण में सही ही, काव्य का उपकरण अवश्य समझा जाता था। भारतीय कवि इतिहास की घटनाओं को भी अतिमानवीय परिधान दे देते थे जिससे यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि इसमें कितना अंश इतिहास का है और कितना कल्पना का। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नही लिया गया, बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। युद्ध में दैवी शक्ति का आरोप कर पौराणिक बना दिया गया है, जैसे राम, कृष्ण, बद्ध आदि और कुछ मे काल्पनिक रोमास का आरोप करके निंजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है—जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल।

वस्तुत. ऐतिहासिक काव्यों का उदय सामन्तवाद की देन है। भारत मे भी ईसा की दूसरी शताब्दी से ही राजस्तुतिपरक रचनाओ का निर्माण शुरू हो गया था। मैक्समूलर ने ईसा की पहली से तीसरी तक के काल को अधेरा युग कहा है क्योंकि उनको इन शताब्दियो मे अच्छे काव्य का अभाव दिखाई पड़ा। मैक्समूलर के मत के विरोध में डाक्टर ब्यूलर ने कहा कि इस काल में अत्यन्त सुन्दर स्तुति काव्यों की रचना होती थी, अभाग्यवश हमें कोई वैसा काव्य नही मिल सका है किन्तु शक क्षत्रप रुद्रदामन का गिरनार का शिलालेख (ई० १५०), कविवर हरिषेण की लिखी प्रशस्ति (समुद्र गुप्त ३५० ई०) जिसमें समुद्रगुप्त के दिग्विजय का बड़ा ही ओजस्वी वर्णन किया गया है तथा ईस्वी सन् ४७३ ईस्वी में लिखी वत्सभट्टि की मन्दसोर की प्रशस्ति इस प्रकार की स्तुतिपरक ऐतिहासिक रचनाओं की ओर संकेत करती है। कवि वत्सभट्टि ने चालीस श्लोकों में जो मनोरम प्रशस्ति प्रस्तुत की है वह महत्वपूर्ण लघु काव्य है, जिसमें भाव, भाषा सभी कुछ उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ते है। फिर भी इतना तो सत्य है कि बाणभट्ट के हर्षचरित के पहले इस प्रकार के स्तुतिंपरक ऐतिहासिक काव्यों का कोई सन्धान नहीं मिलता। हर्षचरित को भी वास्तविक अर्थ में काव्य नहीं कह सकते, वह आख्यायिका है। संस्कृत

का सबसे पहला ऐतिहासिक काव्य पद्मगुप्त परिमल का लिखा नवसाहसाङ्कचरित (१००५ ई०) है जिसमें धारानरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज और शशिप्रभा नामक राजकुमारी के विवाह की कथा वर्णित है। चालुक्यवंशी नरेन्द्र विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६—११२७ ई०) के सभा कवि विल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में अपने आश्रमदाता के चरित्र तथा उसके वंश का वर्णन किया है। इसके बाद तो ऐसिहासिक काव्यो की एक परम्परा ही चल पड़ी और चरित्र, विजय, विलास, आदि नामो से कई ऐतिहासिक काव्य लिखे गए जिनमे कल्हण की राजतरंगिणी (१०५० ई०), हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित (१०८६ ई० ११७३ ई०), वस्तु पालके सभा कवि सोमेश्वर की कीर्ति कौमुदी (११७६-१२६२), अरिसिंह का सुकृत संकीर्तन (वस्तुपाल) आदि महत्वपूर्ण रचनाएँ है। दो सौ वर्ष पीछे चन्द्रसूरि ने चौदह सदी मे 'हम्मीरमहाकाव्य' लिखा तथा १६वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में अकबर के सामन्त राजा सुरजन की प्रशंसा मे गौड़देशीय कवि चन्द्रशेखर ने 'सुरजन चरित' की रचना की। इसी तरह विजयनगर के नरेशों की प्रशंसा मे राजनाथ डिंडिम ने 'अच्युतरामाभ्युदय' तथा कम्पराय की रानी गंगा देवी ने अपने पति की प्रशंसा में 'मधुराविजय' का प्रणयन किया। जयानक का लिखा 'पृथ्वीराज विजय' की भी एक अधूरी प्रति मिली है जो ओझा जी द्वारा सम्पादित होकर अजमेर में प्रकाशित हुई है।

संस्कृत के ऐतिसाहिक काव्यों की यह परंपरा थोड़ी-बहुत परिवर्तित रूप में प्राकृत और अपभ्रंश मे भी दिखाई पड़ती है। यशोवर्मा के सभापंडित वाक्पतिराज का गउडवहो अपनी शली के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। अपभ्रंश के रासो ग्रंथ भी एक प्रकार के ऐतिहासिक काव्य ही हैं यद्यपि इनमें कल्पना का रंग ज्यादा गाढा है।

कीर्तिलता भी एक ऐतिहासिक काव्य है। कवि विद्यापति ने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह की कीर्ति को प्रोज्ज्वल करने के लिए इस काव्य की रचना की। यह एक चरित-काव्य है।

राय़ चरित्त रसालु यहु णाह न राखहिं गोइ
कवन वंस को राय सो कित्तिसिह को होइ

भृंगी के इस प्रश्न पर भृंग ने कीर्तिसिंह के चरित्र का उद्घाटन किया। कीर्तिलता एक छोटी सी रचना है इसलिए इसमे चरित काव्यो की तमाम प्रवृत्तियो का मिलना कठिन है। मध्यकालीन चरित काव्यों में कथानक रूढ़ियो का प्रमुख स्थान है। इस प्रकार की कथानक रूढ़ियों में एकाध ही कीर्तिलता मे मिलती है। उदाहरण के लिए क्रीर्तिलता संवाद-पद्धति पर लिखी गई है, भृंगी शका करती है, भृंग उसका उत्तर देता है। रासो के शुक-शुकी सम्वाद की तरह यह भी संवाद है किन्तु यहाँ भृंग-भृंगी वक्ता-श्रोता के रूप मे ही बने रहते हैं, नायक की आपद-विपद मे सहायता करने के लिए दौड़ते नही। इस प्रकार यद्यपि विद्यापति में बहुत कुछ प्रचलित रूढ़ि का सहारा लिया है किन्तु उसे खीचकर अस्वाभाविकता की सीमा तक ले जाना स्वीकार नही किया।

मध्यकाल के तमाम चरित काव्यो में कीर्तिलता का स्थान इसीलिए विशिष्ट है कि लेखक ने कल्पना और अतिरंजना का कम से कम सहारा लिया है। ऐतिहासिक घटनाओं की यथातथ्यता के प्रति जितना सतर्क विद्यापति दिखाई पड़ते हैं, उतना उस काल का दूसरा कोई कवि नहीं। ऐसा नहीं कि उन्होने नायक की युद्ध-वीरता आदि के वर्णन में अतिरंजना का सहारा लिया ही नहीं है, लिया है और खूब लिया है, किन्तु कथा के नियोग मे अस्वाभाविक घटनाओं का कहीं भी समावेश नहीं किया गया है। केवल रूढ़ियों के निर्वाह के लिए या पाठकों को कथा-रस का आनन्द देने के लिए अवान्तर घटनाओं, प्रेम-व्यापार, भूत-परियों, आदि को इसमे कही भी स्थान नहीं है। चरित-काव्यों की तरह इसमें भी आरंभ, में सज्जन-प्रशंसा और खल-निन्दा के रूप कुछ पंक्तियाँ दी गई हैं—

सुअण पसंसइ कब्ब मझु दुज्जन बोलइ मन्द
अवसओ विसहर विस बमइ अमिअ विमुक्कइ चन्द

सज्जन पुरुष चन्द्रमा की तरह हैं जो अमृत-वर्षण करते है किन्तु खल तो विषधर है उनका काम ही विष-वमन करना है; किन्तु

बालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ

कवि को अपनी प्रतिभा पर अटूट विश्वास है, वह जानता है कि द्वितीया के निष्कलंक चन्द्रमा पर दुर्जन का उपहास नही लग सकता वह तो शंकर के मस्तक पर सुशोभित होगा ही।

खल निन्दा और सज्जन-प्रशंसा आदि की परिपाटी पूर्ववर्ती काव्यों मे तो है ही तुलसी के मानस आदि परवर्ती काव्यो में भी दिखाई पड़ती है। चरित काव्यों में मुख्य रूप से आखेट, प्रेम और युद्ध का वर्णन होता है। कीर्तिकला में अधिकांश युद्ध या युद्ध के लिए उद्योग का ही वर्णन हुआ है। द्विवेदी जी का अनुमान है कि संभवतः कीर्ति-पताका में प्रेम-आखेट आदि का वर्णन हुआ है। उसके बारे में कुछ कहा नही जा सकता; यद्यपि पुस्तक मे कुछ प्रारंभिक पन्ने जो प्राप्त हैं इसी बात की ओर संकेत करते हैं। उनमे युद्ध की भूमिका नहीं शान्ति की भूमिका दिखाई पड़ती है।

मध्यकालीन साहित्य में वृत्तान्त-कथन की दूसरी शैली कहानी या आख्यायिका की है। कीर्तिलता को लेखक ने 'कहानी' कहा है।

पुरिस कहाणी हञो कहञो जसु पत्थावे पुन्न
सुक्ख सुभोअण सुभवअण देवहा जाइ सपुन्न

मै उस पुरुष की कहानी कहता हूँ जिसके प्रस्ताव से पुण्य होता है, सुख, सुभोजन, शुभ वचन और स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

लेखक ने इसे कहानी ही नही कहा है बल्कि आख्यानों के अन्त मे दिए महात्म्य की तरह इस कहानी के सुनने के फायदे भी बताए हैं।

आजकल कथा, कहानी, आख्यायिका का प्रयोग हम सदृशार्थक शब्दों की तरह करते है। किन्तु मध्यकाल में इनके अर्थ मे अन्तर था। कथा शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में अलंकृत काव्य-रूप के लिए भी होता था। वैसे कोई भी कहानी या सरस वृत्तान्त कथा है; किन्तु इस शब्द

के अन्दर एक खास प्रकार के काव्य रूप का भी अर्थ नियोजित मालूम होता है। काव्यालंकार के रचयिता भामह ने सरस गद्य मे लिखी हुई कहानी को आख्यायिका कहा है। भामह ने यह भी कहा कि आख्यायिका के दो प्रकार होते है, आख्यायिका और कथा। आख्यायिका गद्य मे होती थी और इसे नायक स्वयं कहता था जब कि कथा को कोई भी कह सकता था। आख्यायिका उच्छ्वासों में विभक्त होती थी और उसमें वक्त्र और उपवक्त्र छन्द होते थे किन्तु कथा में इस तरह का कोई नियम न था। दण्डी ने इन विद्याओं का होना इस प्रकार बताया है :

अपाद: पादसन्तानो गद्यमाख्यायिकाकथा
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिन:
अपित्वुनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासं चापि भेदकम्
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसंगेन कथास्वपि

(काव्यादर्श १-२३-२८)

संस्कृत के आचार्यों की दृष्टि से आख्यायिका और कथा गद्य में लिखी जानी चाहिएँ किन्तु अपभ्रंश या प्राकृत में इस तरह का कोई बंधन न था। इसी से संस्कृतेतर इन भाषाओं में कथायें प्राय: पद्य में लिखी ही मिलती हैं। इन कथाओं को चरित काव्य भी कहा गया है। अपभ्रंश भाषा के चरित काव्यों में गद्य का एक प्रकार से अभाव दिखाई पडता है। कुछ ग्रंथ अवश्य इसके अपवाद भी हैं। संभव है कि संस्कृत की पद्धति पर कुछ लेखकों ने पद्य-गद्य दोनों में अर्थात् चम्पू काव्य में कथाएँ लिखीं।

जो हो प्रचलित चरित काव्यों में कीर्तिलता इस अर्थ में थोड़ी भिन्न है और उसमें गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। और कथा काव्य की तरह विद्यापति ने भी इस रचना के गद्य खण्डों को भी काफ़ी सरस और अलंकृत बनाने का प्रयत्न किया है। कथा कव्यों में राज्यलाभ, कन्याहरण, गन्धर्व

विवाहों की प्रधानता रहती है; किन्तु कीर्तिलता में केवल राज्यलाभ का ही वृत्तान्त दिया गया है। इस तरह कीर्तिलता में कथा-काव्य के कई लक्षण नही भी मिलते। इसी आधार पर द्विवेदी जी का कहना है कि विद्यापति ने जानबझ कर कीर्तिलता को कथा न कहकर 'कहाणी' कहा है।

इस प्रकार हमने देखा कि एक ओर कीर्तिलता मध्यकालीन चरितकाव्यों या ऐतिहासिक किवा अर्ध ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में गिनी जाती है दूसरी ओर इनमें 'कथा' का भी रूप न्यूनाधिक रूप में पाया जाता है। वस्तुतः कीर्तिलता मे मध्यकालीन काव्यो की कई विशेताएँ, नगर वर्णन, युद्ध वर्णन आदि के प्रसंग में दिखाई पड़ती है, कवि नें समयानुकूल इसमें वर्णन की दृष्टि से छन्दों का भी उचित प्रयोग किया है, साथ ही अपभ्रंश काव्यों की रूढ़ियाँ, कवि-समय आदि इनमे सहज रूप से प्राप्त होते है।

कीर्तिलता काव्य जैसा कहा गया है कीर्तिसिंह के जीगन के एक हिस्से यानी युद्ध और राज्यलाभ के प्रसंगों को लेकर लिखा गया है। लक्ष्मण-सम्वत् २५२ में (ईस्वी सन् १३७१ के आसपास) राजलोभी मलिक असलान से तिरहुत के राजा गणेश्वर का धोखे में वध कर दिया। राजा के वध से तिरहुत की हालत अत्यन्त खराब हो गई। चारो ओर अराजकता फैल गई। कवि ने इस अवस्था का बहुत ही यथार्थ चित्रण उपस्थित किया है—

ठाकुर ठक भए गेल चोरें चप्परि घर लिज्झिअ
दास गोसायिनि गहिअ धम्म गए धन्ध निमज्जिअ
खले सज्जन परभविअ कोइ नहिं होइ विचारक
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कॉ पारक
अक्खर रस बुज्झनिहार नहिं कइकुल भमि भिक्खारि भउँ
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेश जबे सग्ग गउँ

राजा के वध के बाद विश्वासघाती असलान को परिताप हुआ, उसने गणेश्वर का राज्य उनके पुत्र को दे देना चाहा किन्तु पिता के हत्यारे और अपने शत्रु द्वारा समर्पित राज्य को कीर्तिसिह ने स्वीकार नही किया। वे अपने भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर के सुल्तान इब्राहिम शाह के पास

चले । बड़ी कठिनाई से, दोनों भाई जौनपुर पहुँचे । ज़ौनपुर क्या था लक्ष्मी का विश्राम स्थान और आँखों के लिए अत्यन्त प्रिय था । कवि विद्यापति ने जौनपुर का बड़ा ही भव्य वर्णन किया है । बाग-बगीचे, मकान, रास्ते, रहट बाट, पुष्करिणी, संक्रम, सोपान, और हजारो श्वेत ध्वजों से मडित स्वर्ण कलश वाले शिवालयों के विशद वर्णन से कवि ने नगर को साकार रूप दे दिया है । यही नही, उन्होने नगर की बारीक-बारीक बातो का ब्योरेवार वर्णन उपस्थित किया है । गलियों में कर्पूर, कुंकुम, सौगन्धिक, चामर, कज्जल, आदि बेचने वालों के साथ ही कास्य के व्यापारियो की वीथी जो बर्तन गढ़ने की 'झंकार' ध्वनि गूजती रहती थी जिसके साथ और भी मछहटा, पनहटा आदि बाजार के हिस्सों का सूक्ष्म चित्रण हुआ है । नगर के चौड़े चौड़े रास्तों का जनसंमर्द लगता था जैसे मर्यादा छोड़कर समुद्र उमड पड़ा हो ।

नगर का वर्णन विद्यापति की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है । तत्पश्चात् विद्यापति ने मुसलमानों के रहन-सहन का बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है । उनकी आँख के सामने से कोई भी चीज छूट कर बच नहीं सकी । विद्यापति के मन में इनके प्रति सहज विरक्ति है, इनके वर्णन में भी कही-कहीं उनके मन का क्षोभ व्यक्त हो जाता है । खासतौर से उनकी गन्दी आदतें, शराब, कबाब, प्याज का उन्होंने थोड़ा घृणा-युक्त वर्णन किया है । विद्यापति के शब्दों में एक राजकर्मचारी तुर्क का स्वरूप देखिए

अति गह सुमर षोदाए खाए ले भाँग क गुण्डा
बिनु कारणहि कोहाए वएन तातल तम कुण्डा
तुरक तोषारहि चलल हाट भमि हेडा चाहइ
आडी दीठि निहार दवलि दाढी थुक वाहइ

अंतिम पंक्तियों में तो तुर्क की उन्होंने दुर्दशा ही कर दी है जो घोड़े पर सवार होकर बाजार में घूम कर हेडा (कर या गोश्त) मांगता है, क्रुद्ध दृष्टि से देखकर दौड़ता है तो उसकी दाढ़ी से थूक बहने लगता है ।

उस प्रकार के क्रूर शासनाकाल में एक संस्कारी हिन्दू के मन की ग्लानि का स्वरूप देखिए :

घरि आँनए वाभन बटआ, मथा चढ़ावए गाइक चुडुआ
फोट चाट जनेऊ तोर, उपर चड़ावए चाह घोर
धोआ उरिधाने मदिरा साँध, देउर भाँगि मसीद बाँध
गोरि गोमर पुरिल महि, पएरहु देना एक ठान नहीं
हिन्दुहिं गोट्टओ गिलिए हल तुरुक देखि होए भान
अइसेओ जसु परतापे रस चिर जीवतु सुलतान

ब्राभन-वटुक को पकड़ लाता है और उसके माथे पर गाय का शुरुवा रख देता है। चन्दन का तिलक चाट जाता है, माथे पर घोड़ा चढ़ा देना चाहता है। धोए नीवार-धान से मदिरा बनाता है और देवालय तोड़कर मस्जिद खड़ी करता है। कब्रों और कसाइयों से धरती पट गई है, पैर देने की भी जगह नही। तुर्कों को देखने से लगता था कि हिन्दुओं को पूरा पूरा चबा जायेंगे—फिर भी जिस सुलतान के प्रताप में ऐसा होता था, वे चिरजीवी हों।

जिस सुलतान के पास विद्यापति के आश्रयदाता कीर्तिसिंह सहायता माँगने गए थे, इसी सुल्तान के राज्य में यह सब कुछ होता था। लक्खन-सेन ने भी तत्कालीन परिस्थिति का बड़ा मज़ेदार वर्णन किया है—

भोंदु महंथ जे लागे काना, काज छाँड़ि अकाजै जाना
कपटी लोग सब भे.धरमाधी, षोट वइदि नहिं चिन्हे वियाधी
कुजर बाँधे भूखन मरई, आदर सो पर सेइ चराई
चंदन काटि करील ले लावा, आँव काटि बबूर बोआवा
कोकिल हंस मँजारहि मारी, बहुत जतन कागहि प्रतिपारी
सारीव पंख उपारि पालै तमचुर जग संसार
लखनसेनि ताहने बसे काढ़ि जो खाहि उधार

(इब्राहिमशाह का समय, लखनसेनि, हरिचरित्र विराटापर्व अप्रकाशित)

गणेश्वर की मृत्यु हो जाने पर विद्यापति ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। लखनसेनि भी अन्त में अपना क्षोभ रोक नही पाता। कहता है कि सारिकाओं की पाँखे उखाड़ते है और घरों में मुर्गियाँ पालते हैं।

इब्राहिम शाह जिसके द्वार पर संसार भर के राजे प्रणिपात करते हैं और वर्षों दर्शन नहीं पाते, दोनों भाइयों पर कृपा करता है और अलसान को पकड़ने के लिए सेना लेकर चलता है। किन्तु कारणवश सेना जो पूरब के लिए चली थी पश्चिम की ओर बढ़ जाती है, उस समय दोनों राजकुमारों की दशा का बहुत ही हृदय द्रावक चित्रण कवि उपस्थित करता है—

सम्बर निरबल, किरिस तनु, अम्बर भेल पुराण
जवन सभावहिं निक्करुण तौ न सुमरु सुरतान

विदेश में ऋण भी नही मिलता, मानधनी भीख भी कैसे माँग सकता है, राजा के घर जन्म हुआ, दीनता भरे वचन भी कैसे निकलें :

सेविअ सामि निसंक भए दैव न पुरवए आस
अहह महत्तर किंकरउँ गण्डअे गणिअ उपास

मित्र सहायता नही करता, भूख के कारण भृत्यो ने साथ छोड़ दिया, घोड़ों को घास नही मिलती, इस तरह अत्यन्त दुःख की अवस्था में वे दिन बिताते रहे।

किन्तु एक दिन अचानक आशा फलवती हुई, सेना को तिरहुति की ओर मुड़ने की आज्ञा हुई। कीर्तिसिंह के साथ ही विद्यापति कवि भी आनन्द से गा उठे :

फलिअउ साहस कम्मतरु सन्नगह फरमान
पुहुवी तासु असक्क की जसु पसन्न सुरतान

कीर्तिसिंह के साथ सेना चली। उस समय संसार भर में कोलाहल मच गया, सेना के घोड़ों पर दृष्टि डालिए :

अनेक वाजि तेजि-ताजि साजि साजि आनिआ
परक्कमेंहि जासु नाम दीप-दीपे जानिआ
विसाल कन्ध, चारु वन्ध, सत्तिरूअ सोहणा
तलप्प हाथि लाँघि जाथि सत्तु सेण खोहणा
सुजाति सुद्ध, कोहे कुद्ध, तोरि धाव कन्धरा
विसुद्ध दापे, मार टापे चूरि जा वसुन्धरा

इस तरह के दर्प से भरे घोड़े उस सेना में चले, राजधानी के पास दोनो सेनाओं की मुठभेड़ हो गई। तलवारें बज उठीं, कीर्तिसिंह की तलवार जिधर पड़ती उधर ही रुण्ड-मुण्ड दिखाई पड़ते। अन्तरिक्ष में अप्सरायें श्रम-परिहार के लिए अञ्चल से व्यजन कर रही थीं, स्वर्ग से पारिजात-सुमनों की वृष्टि हो रही थी। अलसान पकड़ा गया, किन्तु कीर्तिसिंह ने उसे भागते देख जीवन-दान दे दिया। इस तरह तिरहुत्ति का राज्य पुनः सनाथ हुआ।

इस प्रकार विद्यापति के इस काव्य में यथार्थ एक नवीन सौन्दर्य लेकर उपस्थित हुआ है। उन्होंने एक ओर जहाँ कीर्तिसिंह के वीरता भरे व्यक्तित्व का दर्प दर्शाया है वहीं उनकी दुरवस्था का भी चित्रण किया है। यही नही विद्यापति के इस कौशल के कारण कीर्तिसिंह निजंधरी कथाओं के नायकों से भिन्न कोटि के वास्तविक जीवन्त पुरुष मालूम होते हैं। विद्यापति के इस चरित्र-चित्रण की मूर्तिमत्ता की ओर संकेत करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है कि कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नहीं है जो छाया और आलोक के सामञ्जस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाता है बल्कि उस शिल्पी के टाँकी के समान है जो मर्तियों को भित्तिमात्र में उभार देता है, हम उत्कीर्ण मूर्ति की ऊँचाई-नीचाई का पूरा पूरा अनुभव करते हैं।" इतना ही नही विद्यापति की लेखनी में स्वारस्य का वह जादू भी है कि इन मूर्तिवत् चित्रों को सजीव कर देता है, हम वेश्या के नूपुरों की छमक के साथ ही युद्धभूमि के पटह तूर्य की गगनभेदी आवाज भी सुन पाते हैं काव्य कौशल की दृष्टि से विद्यापति का कोई प्रतिमान नही। उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में एक सुरुचि दिखाई पडती है। वेश्याओं के काले काले केश में श्वेत पुष्प गुथे हुए हैं, कवि कहता है मानों मान्य लोगों के मुख चन्द्र की चन्द्रिका की अधोगति देखकर अन्धकार हँस रहा हो—

> तन्हि केस कुसुम वस, जनि मान्य जनक लज्जावलंबित मुखचंद्र चन्द्रिका करी अधओ गति देखि अन्धकार हस। नयनाञ्चल संचारे भ्रूलता भंग, जनि कज्जल कल्लोलिनि करी वीचिविवर्त बड़ी बड़ी सफरी तरंग।

संदर्भ—ग्रंथ—सूची

हिन्दी-संस्कृत

१. अलंकार शेखर	केशवमिश्रकृत, सम्पादक शिवदत्त, बम्ब १९५९ ई०
२. उज्ज्वल नीलमणि	रूप गोस्वामी
३. कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा	शिवप्रसाद सिह, प्रयाग १९५५ ई०
४. केशव ग्रंथावली	सम्पादक विश्वनाथ : प्रसाद मिश्र, हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग
५. गाथा सतसई	हालकृत
६. गीतगोविन्द काव्यम्	जयदेव कृत, गंगेश रामकृष्ण तैलंग द्वार सम्पादित
७. चिन्तामणि, दूसरा भाग	रामचन्द्र शुक्ल, काशी, सम्वत् २००२
८. प्राकृत व्याकरण	हेमचन्द्र कृत, सम्पादक पी० एल० वैद्य बम्बई।
९. पाकृत पैंगलम्	सम्पादक मनमोहन धोष, १९०२ ई०
१०. प्राचीन गुर्जर काव्य	गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, नम्बर १३
११. महाकवि विद्यापति	शिवनन्दन ठाकुर, लहरिया सराय, पटना
१२. रागतरंगिणी	लोचन कवि कृत
१३. मध्यकालीन धर्म साधना	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रयाग
१४. विद्यापति पदावली	रामवृक्ष बेनीपुरी, लहरियासराय, पटना
१५. विद्यापति	श्री जनार्दन मिश्र